आचार्य भगवान देव

स्वामी दयानन्द
और उनके अनुयायी

Presented to DR-Chhatrasal Singh with regards
Nareshkumar
27-6-1986

D—535

आधुनिक भारत का नवनिर्माण करने वाले महापुरुषों में स्वामी दयानन्द का नाम सबसे ऊपर है।

स्वामी दयानन्द केवल एक महान समाज-सुधारक तथा प्रखर क्रांतिकारी महामानव ही न थे, उनके हृदय में सामाजिक अन्यायों को उखाड़ फेंकने की प्रचण्ड आग थी।

सारे देश की एक भाषा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, पंचायतों की स्थापना, दलितोद्धार, राष्ट्रीय एकता, देशाभिमान और स्वराज्य की घोषणा आदि का कार्यक्रम सौ साल पहले स्वामी दयानन्द देश के सामने घोषित किया और स्वयं देश भर में घूमकर जन-सामान्य से सम्पर्क स्थापित कर इन सबका व्यावहारिक प्रचार किया करते थे।

इस पुस्तक में स्वामी दयानन्द व उनके अनुयायियों का जीवन सरल सुबोध भाषा में दिया गया है। जिसे विशेष रूप से संसद सदस्य आचार्य भगवान देव ने स्वामी दयानन्द की निर्वाण शताब्दी पर तैयार किया है।

डायमंड पाकेट बुक्स

आचार्य
भगवान देव
संसद सदस्य

स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी

क्रम

अपनी बात

१९वीं शताब्दी में जब मानवता कराह रही थी। सारा संसार अज्ञान, दम्भ, द्वेष, शोषण की आग में जलता हुआ नजर आ रहा था। मानवता पथभ्रष्ट होकर यत्र-तत्र प्रकाश का आश्रय पाने के लिए भटक रही थी। ऐसी विषमपरिस्थिति में एक महान ज्योतिर्धर दिव्य दिवाकर दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने सारे संसार का उपकार करने के उद्देश्य से वेद के आधार पर एक सार्वभौम संगठन की सन १८७५ में सर्वप्रथम बम्बई में नींव डाली—जिसका नाम था—आर्यसमाज। आर्यसमाज क्या है? इसका उत्तर अमेरिका के महान परोक्षदर्शी विद्वान ऐन्ड्रूज जैक्शन के शब्दों में—

मुझे एक आग दिखाई पड़ती है जो सर्वत्र फैली हुई है अर्थात असीम प्रेम की आग जो कि द्वेष को जलाने वाली है और प्रत्येक वस्तु को जलाकर शुद्ध कर रही है। अमेरिका के शीतल मैदानों, अफ्रीका के विस्तृत देशों, एशिया के प्राचीन पर्वतों और यूरोप के विशाल राज्यों पर मुझे इन सबको जलाने वाली और इकट्ठा करने वाली आग की ज्वालाएं दिखाई देती हैं। इसकी चर्चा निम्नस्थ देशों में से उठी है। अपने सुख और उन्नति के लिए इसे मनुष्य ने स्वयं प्रज्वलित किया है।

हिन्दू और मुसलमान इस प्रचंड अग्नि को बुझाने के लिए चारों ओर वेग से दौड़े परन्तु यह आग ऐसे वेग से बढ़ती गई कि

जिसका इसके प्रकाशक स्वामी दयानन्द को ध्यान भी नहीं था और ईसाइयों ने भी जिनके मत की आग और दीपक जो पहले-पहल पूर्व में ही प्रकाशित हुए थे, एशिया के इस नए प्रकाश के बुझाने में हिन्दुओं और मुसलमानों का साथ दिया, परन्तु यह ईश्वरीय आग और भी भड़क उठी और सर्वत्र फैल गई।

सम्पूर्ण दोषों का संघट्ट नित्य की शुद्ध करने वाली भट्टी में जलकर भस्म हो जाएगी। यहां तक कि रोग स्थान से आरोग्य, झूठे विश्वासों की जगह तर्क, पाप के स्थान में पुण्य, अविद्या की जगह विज्ञान, द्वेष की जगह मित्रता, वैर की जगह समता, नरक के स्थान पर स्वर्ग, दुख की जगह सुख, भूत-प्रेतों के स्थान में परमेश्वर और प्रकृति का राज्य हो जाएगा। मैं इस अग्नि को मांगलिक समझता हूं। जब यह अग्नि सुन्दर पृथ्वी को नवजीवन प्रदान करेगी तो सार्वजनिक सुख, अभ्युदय और आनन्द का युग आरम्भ होगा। यह आग एक भट्ठी में थी जिसे आर्यसमाज कहते हैं यह आग भारत मां के परम योगी दयानन्द के हृदय में प्रज्वलित हुई थी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामी दयानन्द एक महान् सूक्ष्मदर्शी दिव्य द्रष्टा युग पुरुष थे। उन्होंने मानवजाति की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक चेतना को जागृत करने के लिए अपने घर-परिवार को भी तिलान्जलि देकर वाणी, वर्तन और लेखनी से असत्य अज्ञानता से लोहा लिया। प्रजातन्त्र शासन पद्धति के आधार पर आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म, संस्कृति की आधारशिला पर राष्ट्रीयता के सुन्दर, सुदृढ़, अजेय दुर्ग के निर्माण की अभूतपूर्व योजना बनाई। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए। जैसे सार्वभौम दस नियमों को बनाकर मानवता का महल खड़ा करने के लिए जिस समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द ने की, मौलाना जहूरबख्श ने उनका मूल्यांकन करते हुए कहा—

"स्वामी दयानन्द विश्वामित्र अर्थात् विश्व के मित्र थे। उनका प्रेम सार्वभौम था। उनके हृदय में सबके लिए समान प्रेम था।

स्वामी दयानन्द ने कब और कहां अन्य धर्मों पर घृणात्मक दृष्टि की है मुझे तो इसका पता नहीं चलता। उन्होंने यह तो कहीं नहीं कहा कि अमुक धर्म बुरा और घृणा योग्य है। अतः उस धर्म के अनुयायी उसे मानना छोड़ दें। उसने सत्यार्थ प्रकाश में अन्य धर्म सम्बन्धी जिन ग्रंथों की आलोचना की है। वह उनके विचार स्वातन्त्र्य का सुन्दर उदाहरण है। विचार स्वातन्त्र्य से घबराना कोरी कायरता है। यदि स्वामी ने सत्यार्थ प्रकाश में स्वतन्त्र आलोचना की है तो पुण्य कार्य ही किया है। अन्य विचार वालों को उस पर स्थिर-चित्त से विचार करना चाहिए। यदि ऋषि द्वारा बतलाए गए दोष ठीक जचें तो प्रसंन्नतापूर्वक अपने धर्म का संस्कार करें। इससे तो उन्नति ही होगी। ऋषि के हृदय में विश्व प्रेम की विमल धारा प्रवाहित हो रही थी। वसुधैव कुटुम्ब उनकी प्रधान नीति थी।

आर्य समाज ने व्यक्तिवाद पर आधारित परम्परागत मान्यताओं को न मानकर वेद के आधार पर मानव को बुद्धि की कसौटी पर कसकर कोई निर्णय अथवा कार्य करने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने कहा—

"स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं, मैंने संसार में केवल उन्हीं को गुरु माना है। वे मेरे धर्म के पिता हैं और आर्य समाज मेरी धर्म की माता है। इन दोनों की गोदी में मैं पला। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया।

आर्य समाज का संगठन लोकतन्त्र पर आधारित श्रेष्ठतम संगठन है। यही कारण है कि आजाद हिन्द फौज के सेनापति सुभाष चन्द्र बोस को एक बार कहना पड़ा—

"स्वामी दयानन्द सरस्वती उन महान पुरुषों में से थे जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो इसके आचार-सम्बन्धी

पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता है। हिन्दू समाज का उद्धार करने में आर्यसमाज का बहुत हाथ है। रामकृष्ण मिशन ने बंगाल में जो कुछ किया उससे कहीं अधिक आर्य समाज ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में किया है—यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पंजाब का प्रत्येक नेता आर्यसमाजी है। स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और समाज सुधारक कर्मयोगी मानता हूं। संगठन कार्यों में सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्य समाज अनुपम संस्था है।

—संगठन कार्य दृढ़ता, उत्साह और समन्वयात्मकता की दृष्टि से आर्य समाज की समता कोई समाज नहीं कर सकता।"

स्वतन्त्रता से पूर्व संगठित रूप से जनता से सीधा सम्पर्क करके श्रेय आर्य समाज को देते हुए महात्मा गान्धी ने कहा—

"स्वामी दयानन्द के विषय में मेरा मन्तव्य यह है कि वह हिन्दुस्तान के आधुनिक ऋषियों, सुधारकों श्रेष्ठ पुरुषों से एक तो उनका ब्रह्मचर्य, विचार स्वतन्त्रता, सर्वत्प्रतिप्रेम, कार्यकुशलता आदि गुण लोगों को मुग्ध करते थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत ही पड़ा हैं। मैं जैसे-जैसे प्रगति करता हूं वैसे-वैसे मुझे स्वामी जी का बताया मार्ग दिखाई देता है। ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के पश्चात् जनता के साथ सीधा सम्पर्क रखने का मार्ग स्वामी दयानन्द ने खोज निकाला। इसका श्रेय स्वामी दयानन्द एवं उनकी आर्य समाज को प्राप्त है। स्वामी दयानन्द तथा उनकी आर्य समाज ने प्रजा में नवचेतना पैदा की है। हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। राष्ट्रीय शिक्षण, स्त्री तथा दलितोद्धार आदि न भुलाई जा सके जैसा राष्ट्र की महान् सेवा की है। मुझे आर्य समाज बहुत ही प्रिय है। स्वामी दयानन्द के इस पवित्र देशोपकारी कार्य का कभी भी अपमान होगा तो मैं उसको महापाप समझूंगा।

संकीर्ण भाव रखने वाले साम्प्रदायिक लोगों ने आर्य समाज

तथा स्वामी दयानन्द को सम्प्रदायिक कहा। परन्तु स्वामी दयानन्द के समकालीन अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के संस्थापक प्रसिद्ध मुश्किल नेता सर सैयद अहमद खां ने स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात ६ नवम्बर १८८३ को अलीगढ़ इन्टीट्यूट मैग्जीन में लिखाः—

"निहायत अफसोस की बात है कि स्वामी दयानन्द साहब ने जो संस्कृत के बड़े आलम विद्वान और वेदों के बहुत मुहक्कि (समर्थक) थे। ३० अक्तूबर ७ बजे शाम को अजमेर में इंतक़ाल किया। इलावा इल्मो फ़ज़ल (उत्तम विद्याओं के अतिरिक्त) निहायत नेक और दर्वेश असिफ्त (साधु स्वभाव) आदमी थे। इनके मोहकिद (अनुयायी) इनको देवता मानते थे और बेशक वे इसी लायक थे। वे सिर्फ ज्योतिस्वरूप निराकार के सिवाय दूसरे की पूजा को जायज (निहित) नहीं रखते थे। हमसे स्वामी दयानन्द मरहून (स्वर्गीय) से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा इनका निहायत अदब (आदर) करते थे कि हरेक मजहब वाले को इनका आदब लाजिमी (आवश्यक) था। बहरहाल ऐसे शख्श थे जिनका मिशाल (उपमा) इस वक्त हिन्दुस्तान में नहीं है और हर एक शख्श को उनकी वफात (मृत्यु का गम) (शोक) करना लाजिमी है कि ऐसे बेनजीर शख्श (अनुपम मनुष्य) इनके दरम्यान से जाता रहा।"

यूरोप के प्रसिद्ध वेदों के विद्वान प्रोफ़ेसर एफ० मैक्समूलर ने आर्य समाज की सेवाओं का आदर करते हुए कहा :—

"आर्य समाज के आन्दोलन के प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है। स्वामी दयानन्द ने विश्वहित के लिए कार्य किया है। आर्य समाज अनुयायियों को शांत नहीं बैठना चाहिए किन्तु स्वामी जी के उपदेशों को सफल बनाने के लिए प्रतिदिन अग्रसर रहना चाहिए। यदि मुझसे आर्य समाज की सेवाओं का सौभाग्य प्राप्त होगा तो मैं अपने आपको भाग्यशाली समझूंगा।

आर्य समाज परोपकारी-गुणों की गरिमा को एक लेख में न्याय

देना सम्भव नहीं है। इस पर अनेकों विद्वानों ने आर्य समाज के विविध पहलुओं पर ग्रंथ लिखे हैं। १८८३ में स्वामी दयानन्द निर्वाण शताब्दी के रूप में मनाई जा रही है। इस अवसर पर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि जो कार्य समाज ने एक शताब्दी में किया गया है ऐसा कार्य अन्य किसी भी संगठन ने अनेक शताब्दियों मेंभी नहीं किए। भूत सराहनीय था भावि सुन्दर हो इसके लिए आर्य समाज के हर व्यक्ति को मानव मात्र के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए दृढ़ संकल्प लेकर कार्यक्षेत्र में कूद पड़ना चाहिए।

स्वामी दयानन्द तथा उनके क्रान्तिकारी अनुयायियों के जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश इस पुस्तक में डाला है। मुझे पूर्ण आशा है कि इसको पढ़कर राष्ट्र की भावी सन्तति अवश्य प्रेरणा प्राप्त करेगी।

भगवानदेव
१३, लोधी एस्टेट
नई दिल्ली-११०००३

स्वामी दयानन्द

प्रात:काल की पवित्र वेला थी। कोपीनधारी एक तरुण तपस्वी गंगा के किनारे पूर्वाभिमुख बैठकर परमात्मा की आराधना में लीन थे। विशालकाय शरीर व तेजस्वी चेहरे से दिव्यता के दर्शन होते थे। कोई अद्भुत योगी प्रतीत होते थे।

इतने में भगवान भास्कर सूर्य देवता अन्धकार को चीरकर पृथ्वी पर प्रकाश फैलाने के लिए आकाश में उदय होने लगे। सूर्य के प्रथम प्रकाश की स्वर्ण लालिमा ने सृष्टि के सौंदर्य में चार चांद लगा दिए। पक्षी प्रभु के गुणगान करते हुए आकाश में उड़ने लगे।

सूर्य के प्रकाश से साधना में बैठे तरुण तपस्वी के चेहरे पर अलौकिक आभा के दर्शन होते थे। 'ओ३म् शांति' कहकर उस दिव्य पुरुष ने ज्योंही अपनी आंखें खोलीं, त्योंही उन्होंने देखा कि मां भारती की एक पुत्री रोती, चिल्लाती, विलाप करती हुई गंगा की ओर बढ़ती जा रही है। उसके हाथों में कपड़े से ढकी हुई कोई वस्तु है। गंगा के समीप पहुंचते ही उस देवी ने बहती हुई धारा की ओर कदम बढ़ाया। पन्द्रह-बीस कदम आगे बढ़कर उस देवी ने कपड़ा हटाकर हाथों में पकड़ी हुई वस्तु को रोते हुए गंगा की धारा में प्रवाहित कर दिया और उस कपड़े के टुकड़े को पानी में भिगोकर निचोड़ते हुए गंगा से बाहर निकली।

तरुण तपस्वी ने यह सारा दृश्य अपनी आंखों से देखा। उन्होंने देवी के समीप पहुंचकर पूछा, "देवी! तेरे हाथों में क्या था, जिसको तूने रोते हुए पानी में बहा दिया?"

देवी ने विलाप करते हुए उत्तर दिया :

"स्वामीजी! मेरी एकमात्र सन्तान थी, जिसकी मृत्यु हो गई

थी, उसे गंगा में प्रवाहित करने आई थी।"

"तुमने अपने बच्चे की लाश पर से यह कफन का कपड़ा उतार कर क्यों अपने साथ ले लिया? उसे लाश के साथ प्रवाहित क्यों नहीं किया?" तपस्वी साधु ने भावपूर्ण मुद्रा में देवी से पूछा।

"महात्मन्! मेरे पास अपने तन को ढकने के लिए एक ही साड़ी थी, उसे फाड़कर मैं अपने बच्चे की लाश को ढककर लाई थी। यह कपड़ा यदि लाश के साथ बहा देती, तो तन को पूर्ण रूप से ढकना मेरे लिए सम्भव नहीं था। मेरे पास दूसरा कपड़ा नहीं है।" रोती हुई उस देवी ने उत्तर दिया।

"क्या अपने पुत्र से भी यह कफन का कपड़ा तुझे अधिक प्यारा है, जिसे तू अपने साथ ले जाना चाहती है?" आश्चर्य में पड़कर उस तेजपुंज तरुण तपस्वी ने उस देवी से पूछा।

"ऋषिवर! मैं लाचार हूं। मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें मैं इस कपड़े के टुकड़े को लाश के साथ गंगाजी में प्रवाहित करती। किस अभागिन मां को अपने प्यारे पुत्र की अपेक्षा कपड़े का टुकड़ा प्यारा हो सकता है! परन्तु मैं क्या करूं? मेरी आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि मेरे पास न पेट की भूख मिटाने को अन्न है और न तन को ढकने के लिए कपड़ा है। मेरा और कोई सहारा भी तो नहीं है, जिनके आधार पर मैं जीवन जी सकूं। कहां जाऊं? कुछ समझ में नहीं आता। मन करता है कि मैं भी अपने-आपको गंगा को समार्पित कर दूं। आत्म-हत्या पाप है, यह समझकर भारी मन लेकर लौट जाना चाहती हूं। मेहनत-मजदूरी करके पेट को पाल लूंगी।" यह कहकर वह देवी रोती हुई गांव की ओर चली गई।

देवताओं के देश आर्यवर्त की एक आर्य नारी के दारुण दुःख की दास्ता सुनकर तपस्वी साधु की आंखें खुल गई। प्राचीन आर्यों का गौरवपूर्ण, वैभवशाली इतिहास उनकी आंखों के सामने चल-चित्र के समान चक्कर काटने लगा।

सोने की चिड़िया यह देश, जिसको पारसमणि की प्रतिष्ठा देकर देश-विदेश के इतिहासकारों ने उसके गुणगान करते हुए ग्रंथ लिख डाले। संसार के कंगाल और गरीब देश के लोग जिसकी शरण में आकर स्वर्गीय सुख प्राप्त करके स्वर्ण हो गए। जहां घी-दूध की नदियां बहती थीं। कोई बेकार, गरीब, दीन, दुःखी नहीं था। सबको पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थीं। ज्ञान-विज्ञान तो इतना था कि विश्व-

भर के जिज्ञासु यहां के विद्वानों-मनीषियों के चरणों में आकर हर प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते थे। कला-कौशल का तो कहना ही क्या विश्व में विख्यात था। अकालमृत्यु का तो सवाल ही नहीं था। मर्यादित आवश्यकताओं के आधार पर जीवन जीने वाले आर्यों के यहां कहीं दैवयोग से किसी प्रकार का कोई अभाव होता तो पड़ोसी बिना बताए उसकी इस प्रकार मदद करते थे, जैसे कोई अपने परिवार में किसी की करता हो, क्योंकि त्याग करके भोगने में सबको आनन्द की अनुभूति होती थी सब भाई-चारे से रहते थे।

ऐसे महान देश का इतना पतन कि एक मां को अपने बेटे की लाश पर से कफन के कपड़े को अपने साथ घर ले जाने के लिए मजबूर होना पड़ा।

देश की इस भयंकर दरिद्रता को देखकर वह संन्यासी बेचैन हो उठा। साधना करने जब बैठते तो उस देवी के दारुण दुःख का दृश्य उनके सामने आ जाता। भगवान की भक्ति करने में उनका मन अब वैसा नहीं लगता था। जैसा पहले लगा करता था। जागते, उठते-बैठते देश की दुर्दशा का दृश्य उन्हें परेशान कर देता १८ घण्टे रोज समाधि लगाने वाले महात्मा का मन और मस्तक इस घटना से ठनक गया।

कारण ढूंढ़ने पर उन्हें पता लगा कि विदेशियों द्वारा देश का दोहन हो रहा है। व्यक्तिगत स्वार्थों ने देश के चक्रवर्ती राष्ट्र के स्वरूप को छिन्न-भिन्न करके छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया है। प्रजा के पालक राजे-महाराजे जनता के पैसों से, भोग-विलास में लिप्त हुए पड़े हैं। ईर्ष्या, राग-द्वेष की आग में देश जल कर खाक बनता जा रहा है। राष्ट्रीय भावना तथा चरित्र नाम की कोई चीज नजर नहीं आती। मानवता के आधार पर स्थापित मजहब वाद के शैतान ने मानव को राक्षस बना दिया है। धर्म के नाम पर पाप पाखण्ड और पोपलीलाओं ने समाज को जड़ से हिला दिया है। छुआछूत की दीवार इतनी उठ चुकी है कि मानव का मानव से मिलना कठिन हो गया है। बाल-विवाहों ने हमारे शक्तिशाली राष्ट्र को इतना पंगु बना दिया है कि किसी तेजस्वी पुरुष के दर्शन करना दुर्लभ हो गया है। सती-प्रथा की शैतानी परम्परा ने अनेक गुणों वाली देवियों के जीवन से होली खेल डाली। स्त्री-शिक्षा के अभाव में ज्ञानी और बलवान सन्तानों का होना कठिन हो गया।

प्रतिभाशाली बालकों की कमी के कारण प्रतिभाशाली नेताओं और राष्ट्र में अभाव हो गया। जड़-पूजा ने शक्तिशाली व्यक्तियों को भी बेहूदी, अन्ध भावनाओं और विश्वासों के आधार पर नपुंसक बना दिया था।

मुट्ठी-भर विदेशियों ने हमारी इन कमजोरियों का लाभ उठाया। हम बहुसंख्यक होते हुए भी अपने देश में विदेशियों के गुलाम बन गए। जयचन्द और मानसिंह जैसे लोगों के सहयोग से मुहम्मद बिन कासिम, मुहम्मद गोरी, सिकन्दर, तैमूर, नादिरशाह, हूण सीथियन, मुगल, डच, पुर्तगाली,, फ्रांसीसी और अन्त में अंग्रेजों ने इस देश पर विभिन्न प्रकार से आक्रमण करके सत्ता जमाई। इस्लाम और ईसाइयत ने 'राज्यसत्ता' और 'धर्म' की आड़ में अनेक प्रकार के अत्याचार करके आर्य संस्कृति, सभ्यता, कला, इतिहास आदि को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास किया। बड़े-बड़े ज्ञान के भण्डार जलाए गए। अमूल्य वस्तुएं लूटकर अपने-अपने देशों में ले जाकर वहां का विकास किया। विद्वान कलाकारों को मरवा दिया गया अथवा अपंग बना दिया गया, ताकि वे किसी योग्य न रह सकें। अंग्रेजों ने लार्ड मैकाले के मार्गदर्शन में ऐसा चक्र चलाया कि भारतवासी शक्ल-सूरत से तो भले ही भारतीय लगें, किन्तु उनके रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, वेश-भूषा और वाणी-वर्तन आदि से वे पूर्ण रूप से अंग्रेज बन जाएं। राजसत्ता के बल पर मैकाले अपनी नीतियों को चलाने लगे। उनका कहना था—'यदि तुम किसी देश अथवा जाति को समाप्त करना चाहते हो, तो उसके इतिहास को समाप्त कर दो। वह देश अथवा जाति स्वयं समाप्त हो जाएगी।' मैकाले को अपने षड्यंत्र में सफलता मिली। इसका मुख्य कारण था—राजसत्ता का हर प्रकार से सहयोग।

स्वार्थ बहुत बड़ी चीज है। अंग्रेजों ने बड़े-बड़े धनवानों के नेताओं एवं ऊंचे खानदान वाले लोगों को अच्छे स्थानों पर नियुक्त करके उनको अपने वश में कर लिया, तो कुछ पढ़े-लिखे लोगों को सर, बहादुर, रायसाहेब, राय बहादुर आदि की पदवियां देकर उनको ऐसा गुलाम और बेवकूफ बनाया कि उन्हें आंखों के सामने देश लुटता हुआ दिखाई देता था, फिर भी उनमें बोलने का साहस नहीं होता था।

इन सारी भयंकर परिस्थितियों ने गंगा के किनारे बेचैन बैठे तरुण तपस्वी संन्यासी को झकझोर दिया। देश की दरिद्रता के

कारणों का दिग्दर्शन उन्हें हो गया। देश को प्राचीन गौरव दिलाने के लिए उस दिव्य पुरुष ने अपनी साधना करके स्वयं का कल्याण करने में महानता नहीं समझी, अपितु समस्त जाति के कल्याण में अपना कल्याण समझा।

गुफाओं और कन्दराओं, बीहड़ जंगलों, ऊंची-ऊंची बर्फीली चोटियों पर १८ घण्टे नित्य तपस्या करने वाला यह तरुण तपस्वी संसार का उपकार करने की भावना से कार्यक्षेत्र में कूद पड़ा। उनके भव्य व्यक्तित्व ने, प्रकाण्ड पाण्डित्य ने, ब्रह्मचर्य और योग के तप ने वेद के ज्ञान ने तर्क के तीरों ने, दीन-दुखियों की भलाई की भावना ने संसार को हिला दिया। वह तरुण तपस्वी और कोई नहीं युगपुरुष-दिव्यद्रष्टा, महान क्रान्तिकारी, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द थे। इन्हीं का जीवन-चरित्र हम लिखने जा रहे हैं।

जन्म और शिक्षा

स्वामी दयानन्द का जन्म गुजरात प्रान्त के मोरवी के टंकारा नामक ग्राम में संवत् १८८१ फाल्गुन वदि दशमी शनिवार अर्थात् १२ फरवरी, सन् १८८५ को श्री करसनजी त्रिवेदी के घर माता यशोदा बाई की कोख से हुआ। श्री करसनजी त्रिवेदी एक प्रतिष्ठित औदीच्य ब्राह्मण थे। आपकी अपनी अच्छी जागीर थी। जमीन, मकान, चौपाये, माल काफी था। ब्याज-बट्टे का कार्य भी करते थे। यजमान-वृत्ति का वे कार्य नहीं करते थे। राज्य में तहसीलदार के पद पर थे। इस कारण आसपास के क्षेत्र में आपका काफी प्रभाव था।

पुत्र-जन्म पर परिवार में खुशियां मनाई गईं। मिठाइयां बांटी गईं, गरीबों को दान दिया गया।

बालक तेजस्वी था। पिता ने सोने की शलाका से बालक की जबान पर शहद से, 'ओ३म्' लिखा और कान में 'वेदोऽसि' कहकर बालक के मन में जन्म लेते ही वेद के प्रति आस्था पैदा कर दी।

मूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण बालक का पूर्ण वैदिक विधि से नामकरण संस्कार करके मूलशकर नाम रखा गया। पिता की

चार सन्तानें थीं—दो पुत्र तथा दो पुत्रियां। पुत्रों में एक मूलशंकर तथा दूसरा वल्लभजी था। वल्लभजी का कुछ समय पश्चात् देहान्त हो गया। दो बहनों में एक की मृत्यु विषूचिका रोग से हो गई? दूसरी थी प्रेमा बाई जिसका वंश आज भी चल रहा है।

प्रथम संतान और तेजस्वी चेहरे के कारण बालक मूलशंकर का पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से हुआ। पड़ोसी लोग प्रायः बालक को अपने घर ले जाते। परिवार में पूर्ण रूप से धार्मिक वातावरण था तीन वर्ष की अवस्था में बालक मूलशंकर गायत्री मंत्र का शुद्ध उच्चारण करने लगे थे। पांचवें वर्ष में प्रवेश करते ही विधिवत् शिक्षा प्रारम्भ की गई। देवनागरी लिपि सिखाने के लिए पण्डित की नियुक्ति की गई। नित्य प्रातः पण्डितजी मूलशंकर को पढ़ाने आया करते थे। दो वर्ष तक शब्द-रूपावली, धातु-रूपावली, कारकचक्र, समासचक्र तथा गुजराती भाषा की प्राथमिक शिक्षा दी गई।

तीव्र बुद्धि बालक मूलशंकर को एक बार जो पढ़ाया गया वह भूलता नहीं था। स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। आठवें वर्ष में प्रवेश करते ही व्याकरण के साथ-साथ 'रघुवंश' तथा 'हितोपदेश' की पढ़ाई शुरू की। शैवमत में विश्वास रखने वाले कुल में उत्पन्न होने के कारण शिव सहस्रनाम महिम्नःस्तोत्र तथा अन्य स्तोत्र कण्ठस्थ कराए गए। यज्ञोपवीत की विधि समारोह पूर्वक सम्पन्न की गई। यज्ञोपवीत धारण करते ही वेदाध्ययन का कार्य शुरू किया गया। 'सामवेदी औदिच्य कुल में पैदा हुए बालक मूलशंकर को 'सामवेद पढ़ाया जाने लगा। सामवेद का सस्वर पाठ करने की 'परम्परा कुल में अनेक पीढ़ियों से चली आ रही थी। मूलशंकर भी छोटी अवस्था में सामवेद का सुन्दर पाठ करने लगे। चौदह वर्ष की अवस्था में 'यजुर्वेद' भी कण्ठस्थ कर लिया। मेधावी मूलशंकर ने निरुक्त निघण्टु, पूर्व मीमांसा और कर्मकाण्ड के ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। चारों ओर बालक मूलशंकर की प्रतिभा और पाण्डित्य की चर्चा होने लगी। सुखी परिवार, सुन्दर स्वभाव, तेजस्वी व्यक्तित्व उस पर विद्या और विनय ने सोने में सुहागे का काम किया।

चारों ओर से बालक मूलशंकर के रिश्ते आने लगे। हर प्रतिष्ठित परिवार चाहता था कि उनकी बेटी का सम्बन्ध मूलशंकर जैसे गुणी युवक से हो।

बोधरात्रि

विवाह की चर्चा चल रही थी। संवत् १८९४ की शिवरात्रि के महापर्व पर परिवार में हर वर्ष की भांति उपवास और रात्रि में जागरण का कार्यक्रम रखा गया। बालक मूलशंकर को भी पिता ने उपवास रखने और रात्रि जागरण करने के लिए कहा। बालक मूलशंकर ने पिता की आज्ञा का पालन किया। शहर के बाहर डेमी नदी के रमणीय किनारे पर शिवमन्दिर में रात्रि-जागरण का कार्यक्रम रखा गया। मन्दिर के घण्टे घड़ियालों की ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। असंख्य स्त्री-पुरुष मन्दिर में आ-जा रहे थे। बालक मूलशंकर ने पिता के साथ शिवमन्दिर में प्रवेश किया।

पूर्ण रात्रि का जागरण करने से मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं— दर्शनों की लालसा लेकर दृढ़ संकल्प से मूलशंकर शिव लिंग के सामने बैठ गए। ज्यों-ज्यों रात्रि बढ़ती गई त्यों-त्यों मन्दिर में शांति का साम्राज्य छाने लगा। शोर-शराबा बन्द हो गया। एक-दो बजते ही लगभग सब भक्त-गण निद्रा देवी के वशीभूत हो गए। घन्टे-घड़ियालों के स्थान पर व्यक्तियों के खर्राटों की आवाजें आने लगीं। पुजारी भी सो गए। जाग रहे थे एकमात्र सच्चे शिव के दर्शनों के चाहक जिज्ञासु बालक मूलशंकर। आंखों पर पानी के छींटे मारते रहे, और निद्रा देवी को पास फटकने नहीं दिया। रात्रि के तीसरे पहर वे क्या देखते हैं कि कुछ चूहे शिवलिंग पर चढ़ाए गए भोग को खा रहे हैं। उछल-कूद करके उसे मल-मूत्र द्वारा गंदा कर रहे हैं। नैवेद्य का बड़ी शान से सफाया किया जा रहा था।

यह दृश्य देखकर बालक मूलशंकर का दिमाग ठनक गया। उन्होंने अपने पिता से सुन रखा था कि शंकर त्रिशूलधारी हैं, कैलाश विहारी हैं, तीनों लोकों के ज्ञाता है। राक्षसों का दलन और संहार करने वाले हैं, वरदान देने वाले हैं और शाप देकर भस्मीभूत कर देते हैं। डमरू बजाते हैं, ताण्डव नृत्य करते है। सांपों को गले में माला के समान डाले फिरते हैं। ऐसे शक्तिशाली महादेव का ये

साधारण चूहे मल-मूत्र करके अपमान कर रहे हैं तथा उन पर चढ़ाया गया भोग खा रहे हैं। फिर भी वे उन्हें हटा नहीं पा रहे हैं। क्या वही सच्चा शिव है जिसकी महिमा प्रायः पिताजी मुझे सुनाया करते हैं? यह वही शिव नहीं हो सकता।

जिज्ञासु बालक ने अपने पिता को जगाया। चूहों की लीला उन्हें दिखाकर पूछने लगे, "क्या यह वही शिव है जिसकी चर्चा आप नित्य मुझसे किया करते हैं? यदि यही वह सच्चा शिव है तो इन चूहों को हटाने में क्यों असमर्थ है?"

पिता ने उत्तर दिया, "सच्चा शिव तो कैलाश में रहता है, यह तो उसकी मूर्ति है।'

पिता के उत्तर से पुत्र को सन्तोष नहीं हुआ।

"सच्चा शिव कैलाश में रहता है तो मैं उसके दर्शन करूंगा। इस पाषाण मूर्ति से मेरा क्या सम्बन्ध जो अपना अपमान करने वाले को भी हटाने में असमर्थ है! यह मेरा क्या कल्याण करेगा?' इस प्रकार बालक मूलशंकर के मन में अनेक प्रकार के प्रश्न खड़े हो गए। पाषाण-पूजा के प्रति मन से श्रद्धा उठ गई। वे मन्दिर से उसी समय घर चले गए। ममतामयी मां से खाना मांगकर खा लिया। उपवास तोड़ दिया। पिता को अच्छा नहीं लगा। पुत्र को पत्थरों की पूजा में विश्वास नहीं रहा। चूहों की इस घटना ने मूलशंकर के मन-मस्तक में तूफान खड़ा कर दिया। वे सच्चे शिव की खोज करने के लिए कैलाश जाने की योजनाएं बनाने लगे। यह शिव-रात्रि मूलशंकर के लिए 'बोधरात्रि' बन गई। क्योंकि उसी दिन मूलशंकर को सच्चे शिव का बोध प्राप्त हुआ था। उनका तीसरा नेत्र खुल गया। सच्चे शिव को पाने की प्रबल इच्छा मन में जागृत हुई।

मृत्युंजय का संकल्प

संवत १८९६ विक्रमी की बात है। एक दिन रात्रि को अपने सम्बन्धी के यहां किसी खुशी के प्रसंग में मूलशंकर परिवार के लोगों के साथ भाग लेने गए हुए थे। नौकर ने आकर सूचना दी कि छोटी बहन को हैजा हो गया है। हालत खराब है।

सब लोग घर पहुंच गए। उपचार के लिए वैद्यजी को बुलाया गया। चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ। सारे उपाय निरर्थक हो गए और बहन की मृत्यु हो गई। परिवार के लोग रोने लगे, छाती पीटने लगे, विलाप करने लगे। पड़ोसियों और सम्बन्धियों के आने पर वातावरण और अधिक करुणाजनक बन गया। कठोर हृदय व्यक्ति भी ऐसी स्थिति में अपने-आपको रोने से बचा नहीं सकता, परन्तु बालक मूलशंकर, जो अपनी छोटी बहन से बहुत प्यार करता था, वह उस बहन की लाश के पास पत्थर बनकर खड़ा हो गया। आंखों से एक भी बूंद नहीं निकली। वे विचारों में खो गए—'मौत क्या है? मरने के बाद व्यक्ति का बोलना-चालना बन्द क्यों हो जाता है? मरने के बाद लोग उस व्यक्ति को श्मशान ले जाकर लकड़ियों से जला क्यों देते हैं? मैं भी मर जाऊंगा? मुझे भी लोग जला देंगे? मैं मरना नहीं चाहता। मैं अमर बनना चाहता हूं।"

प्यारी बहन की मृत्यु के शोक का वातावरण अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि संवत १८९९ में उनके चाचा, जिनसे मूलशंकर को बेहद प्यार था, की मृत्यु हो गई। काल के क्रूर पंजे ने चाचा को भी हमेशा के लिए छीन लिया। मृत्यु के समय वे अपने चाचा के पास ही थे। चाचा चरित्रवान और विद्वान होने के साथ-साथ साधु-वृत्ति के व्यक्ति थे। मूलशंकर को प्रायः अच्छी-अच्छी ज्ञान की बातें सुनाकर उनको सही राह दिखाते थे। मूलशंकर को अपने पिता की अपेक्षा चाचा से अधिक प्यार था। उनकी मृत्यु असह्य थी। वे अपने आपको रोक न सके। विलाप करके रोने लगे। इतना रोए कि आंखों में सूजन हो गई। परिवार के लोगों ने बड़ा समझाया, परन्तु हृदय रोकर हल्का होना चाहता था। नयनों में नीर ने गंगा-जमुना का रूप धारण कर लिया। जीवन में इतना वे कभी नहीं रोए।

चाचा की मृत्यु ने मूलशंकर का मार्ग बदल दिया। वैराग्याग्नि तीव्र बनकर तीव्रतम बन गई। जीवन क्षणभंगुर है। मौत अवश्यमेव आनी है। हर मनुष्य को काल का ग्रास अवश्यमेव बनना है। छोटा हो या बड़ा, अमीर हो या गरीब, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, राजा हो या रंक—मौत से कोई बच नहीं सकता। फिर मौत से बचने का क्या उपाय है? जन्म-मरण के दारुण दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढ़ना होगा। मृत्यु पर विजय प्राप्त करके मृत्युंजय

बनना [illegible] उठने लगे।

चाचा की मृत्यु के पश्चात् मूलशंकर का मन सांसारिक बातों से उठ गया। खाते-पीते, पढ़ते लिखते, सोते-जागते, मौत पर विजय पाने के विचार ही आते थे।

ज्ञानी पुरुषों से पूछने तथा पढ़े गए ग्रंथों के आधार पर उन्होंने यह बात निश्चय जान ली कि बाह्य आडम्बर, पूजा-पाठ, अनुष्ठानों से शिव के दर्शन तथा मृत्यु पर विजय पाना सम्भव नहीं है। इसके लिए आन्तरिक प्रकाश की आवश्यकता है। वह प्रकाश योगाभ्यास से प्राप्त होना सम्भव है। इस विद्या के जानकार किसी योगी-मुनि की तलाश करनी होगी। घर पर रहकर यह कार्य नहीं हो सकता। काशी जाकर अधिक विद्या-प्राप्ति की बात कहकर गृह से जाने का निश्चय किया। मूलशंकर को पढ़ाने वाले पंडितजी ने उनके पिता से मूलशंकर की वैरागी विचारधारा का उल्लेख कर दिया। पिता ने काशी जाने की स्वीकृति नहीं दी। लड़का हाथों से चला न जाए, इस विचार से उसे पारिवारिक बन्धनों में बांध लेना आवश्यक समझकर पिता ने मूलशंकर का विवाह कर देने का निश्चय कर लिया। मूलशंकर को जब इस बात का पता लगा, तब वे बेचैन हो उठे। 'गृहस्थ जीवन के झंझटों में फंसकर मैं अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता'—यह उनका दृढ़ मत था। संवत् १९०३ में पिता अपने पुत्र के विवाह की पक्की तैयारियां करने लगे। मूलशंकर विवाह नहीं करना चाहते थे। जब माता-पिता विवाह की पूर्ण तैयारियां कर चुके, तब उनसे रहा न गया। संवत् १९०३ के ज्येष्ठ मास की एक रात्रि को गृह का सदा के लिए त्याग करके चल दिए—सच्चे शिव को पाने तथा मौत पर विजय प्राप्त करके मृत्युंजय बनने के लिए।

गृह त्याग

परिवार के लोग सो रहे थे। मूलशंकर ने शंकर के मूल को जानने के लिए अपने विशाल एवं सुख तथा वैभव से परिपूर्ण परिवार का त्याग करके अपने गांव टंकारा से चार कोस दूर एक गांव में

हनुमान जी के मन्दिर में रात्रि विताई। दूसरे दिन प्रातः होते ही वहां से भी चल दिए। मुख्य मार्ग न पकड़ कर जंगल का रास्ता पकड़ा, क्योंकि उन्हें डर था कि मुख्य सड़क से चलना खतरनाक है। पिताजी खोजते हुए आकर पकड़ लेंगे।

इधर प्रातः होते ही जब परिवार वालों ने देखा कि मूलशंकर गायब है, तब वे चारों ओर तलाश करने लगे। दूर तक पिता पुलिस के व्यक्तियों को लेकर ढूंढ़ने गए, परन्तु कहीं पता न लगा। निराश होकर घर लौट आये। पुत्र के न मिलने पर ममतामयी मां और मित्र सम्बन्धी वहुत दुःखी हुए। मां की हालत खराब हो गई। उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरने लगा।

मूलशंकर को मार्ग में कुछ लंपट साधु मिल गए। जिज्ञासु मूलशंकर ने साधुओं को देखकर प्रणाम किया। योग-विद्या की जानकारी लेनी चाही। साधुओं की दृष्टि मूलशंकर के वहुमूल्य स्वर्ण आभूषणों पर गई। उनका मन ललचाया। उन्होंने मूलशंकर को कहा, "योग-विद्या प्राप्त करनी हो तो इन आभूषणों को त्यागना होगा। ये आभूषण योगाभ्यास में वाधक होते हैं।"

मूलशंकर ने आभूषण उतार दिए—साधु आभूषण लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गए।

सायला गांव में लाला भक्त नाम के एक सन्त रहते थे। मूलशंकर ने उनकी अच्छी ख्याति सुनी हुई थी कि वह योगी हैं। मूलशंकर चलते-चलते उनके वहां पहुंच गए। वहां कुछ दिन रहे। योग विद्या का कुछ अभ्यास किया। वहां एक ब्रह्मचारी रहते थे। मूलशंकर को उनके प्रति श्रद्धा थी। उन्होंने जिज्ञासु मूलशंकर को कहा, "नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत लो, तभी तुम्हारी मनोकामनाएं पूर्ण होंगी। अन्यथा साधारण स्थिति में रहने से और साधारण व्यक्तियों जैसे कपड़े पहनने से तुम सच्चे शिव के दर्शन कर नहीं सकोगे और न मृत्यु के रहस्य को समझ पाओगे।"

मूलशंकर के गले उस ब्रह्मचारी की वात उतर गई। उन्होंने सब कपड़े उतार दिये। काषायवस्त्र धारण कराके उस ब्रह्मचारी ने मूलशंकर का नाम 'शुद्धचैतन्य' रख दिया।

शुद्धचैतन्य वहां हठ-योग की क्रियाएं सीखते रहे। जो साधु लाला भक्त के मठ में आता, उसके पास शुद्धचैतन्य पहुंच जाते। वे प्रायः स्वाध्याय करके किसी पास के जंगल में जाकर पेड़ के नीचे

घण्टों साधना करने बैठ जाते थे। परन्तु वहां उन्हें अपनी इच्छा पूरी होती नजर न आई। वे वहां से चलकर कोटकांगड़ा पहुंच गए। यह स्थान अहमदावाद के करीब था। वहां तपस्वी-वैरागी साधु-संन्यासी रहते थे। उनसे मिलकर शायद मार्ग मिल जाए, यही सोचकर शुद्धचैतन्य वहां पहुंच गये। यहां वहुत से वैरागी साधु आपको मिले। एक ने उनकी एकमात्र रेशमी सुन्दर धोती जो उन्होंने पहन रखी थी, उसके सम्बन्ध में बोलते हुए कहा, "चला हैं साधु बनने और शंकर के दर्शन करने ! क्या भोलानाथ को मिलने वाले भला ऐसी रेशमी धोती पहनते हैं ? शंकर तो भभूति रमाने वाले को दर्शन देते हैं, रेशमी धोती पहनने वाले को नहीं।" भावुक भक्त शुद्धचैतन्य, भगवान भोलानाथ के दर्शनों के आभिलाषा ने वैरागी की वात सुनकर रेशमी धोती उतार दी। पास में पड़े तीन रुपयों में से एक कोपीन लेकर तपस्या करने लगे।

वहां रहते हुए शुद्धचैतन्य को साधुओं के अनेक प्रकार के अनुभव हुए। तरह-तरह की पाप लीलाएं उन्होंने वहां धर्म के नाम पर देखीं। मार्गदर्शक धर्मगुरुओं को धर्म के विरुद्ध आचरण करते हुए उन्होंने देखा। भोली-भाली स्त्रियों के साथ दुराचार करते हुए जब उन्होंने देखा, तब उनके तन-वदन में आग लग गई। एक दिन उन्होंने देखा कि किसी राज्य परिवार की एक कुंवारी कन्या इन वैरागी साधुओं के चक्कर में आ गई है। उसे धर्म के नाम पर फुसलाकर वासनाओं की पूर्ति करने का प्रयास किया जा रहा है। उस कन्या का वचाव करना उनके सामर्थ्य से बाहर था। वे वहां से दुःखी होकर चल दिए।

कोटकांगड़ा में वैरागी साधुओं के साथ रहते हुए आपको पता लगा कि गुजरात की काशी सिद्धपुर में कार्तिक मास का मेला होने वाला है। लाखों लोग इस मेले में दूर-दूर से आते हैं। अनेक साधु-संन्यासियों का समागम सरस्वती के किनारे होता है। शुद्धचैतन्य के पूर्वज भी सिद्धपुर के मेले पर प्रायः जाते थे। यहां के पण्डे-पुजारी भी मथुरा, हरिद्वार, काशी के अनुसार वही-खाते रखते हैं, जिनमें यजमानों के वंशों का उल्लेख होता है।

पिता की कैद में

सिद्धपुर जाते हुए शुद्धचैतन्य को मार्ग में अपने क्षेत्र का एक परिचित व्यक्ति मिल गया। उसने उन्हें पहचान लिया। साधु बनने का कारण पूछा। शुद्धचैतन्य ने सारी राम-कहानी उसे सुनाई और यह भी बता दिया कि सिद्धपुर के मेले पर जा रहा हूं—शायद कोई सच्चा मार्ग बताने वाला गुरु मिल जाए जो शिव के दर्शन करा सके। और बचने का मार्ग बता सके।

परिचित व्यक्ति ने उन्हें वापस घर लौट जाने को कहा। परन्तु दृढ़ संकल्पयुक्त शुद्धचैतन्य अपने लक्ष्य को प्राप्त किए बिना घर लौटना नहीं चाहता था। साफ इंकार सुन वह परिचित व्यक्ति वहां से चला गया। उसनें शुद्धचैतन्य के पिता को जाकर सूचना दी कि आपका बेटा साधु बनकर घूम रहा है। मुझे मार्ग में मिला था, सिद्धपुर के मेले में जाने की बात करता था।

पिता अपने प्यारे पुत्र का पता मिलते ही चार सिपाहियों को साथ लेकर सिद्धपुर पहुंच गए। खूब खोज-बीन करने पर दण्डी स्वामियों के मठ में साधु के वेश में मिल गए। दण्डी स्वामियों के मठ में संन्यासियों के पास पुत्र को बैठा देखकर पिता क्रोध के मारे पुत्र पर टूट पड़े और काफी कुछ भला-बुरा कहा। खूब पिटाई की। संन्यासियों ने जब यह देखा तब पिता को मारने से रोका और शुद्ध-चैतन्य को पिता के साथ जाने को कहा। पुत्र घर जाने को सहमत हो गया। पुलिस के पहरे में पिता अपने पुत्र को उस स्थान पर ले गए जहां उन्होंने ठहरने की व्यस्था की थी।

पुत्र घर जाने को सहमत हो गया है, यह सोचकर पिताजी तथा पुलिस के चारों व्यक्ति निश्चिन्त होकर सो गए। परन्तु शुद्ध-चैतन्य को आराम कहां! वे सारी रात जागते रहे। ताने-बाने बुनते रहे। घर चलने की स्वीकृति तो सिर्फ पिता को परेशानी से मुक्त रखने का बहाना मात्र था। रात्रि के तीसरे पहर जब सब निद्रादेवी के वशीभूत हो गए, उस समय एक लोटा लेकर शुद्धचैतन्य वहां से

पलायन कर गये। लोटा इसलिए साथ में लिया ताकि कहीं मार्ग में पकड़ा जाऊं तो शौच का बहाना बनाने का अवसर मिल सके। सरस्वती नदी के उस पार जाकर एक बगीचा था। उसमें एक मन्दिर था। वहीं एक घने पेड़ के सहारे शुद्धचैतन्य मन्दिर के शिखर पर चढ़ गए।

प्रातः होते ही जब पिता ने आंखें खोलीं तो पुत्र को गायब पाया। सिपाहियों को साथ लेकर चारों ओर खोज करने लगे। उस बगीचे में भी पहुंचे, जहां शुद्धचैतन्य मन्दिर के शिखर पर विराजमान थे। मन्दिर और बाग में पता करके पिता सिपाहियों के साथ निराश लौट गए। रात्रि और सारा दिन शुद्धचैतन्य मन्दिर के शिखर पर थे। न खाया, न पिया। सारा दिन भूखे-प्यासे बड़ी कठिनाई से गुजारा। रात होने पर मन्दिर के शिखर पर से नीचे उतरकर मुख्य मार्ग से हटकर खेतों से होते हुए शुद्धचैतन्य दो कोस की दूरी पर एक गांव के बाहर पीपल के पेड़ के नीचे सो गए। दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर वहां से अहमदाबाद, बड़ौदा, के मार्ग से होकर नर्मदा की ओर चल दिए। पिता कई दिन सिद्धपुर में रहे, परन्तु पुत्र के न मिलने पर निराश-हताश होकर दुःखी दिल लेकर लौट गए। पिता-पुत्र की यह अन्तिम भेंट थी। जीवन में फिर कभी यह पुत्र अपने पिता अथवा परिजनों से नहीं मिले।

दृढ़ निश्चय करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति ही मंजिल को पाता है। मूलशकर ने भी अपने ऐशोआराम को लात मारकर, कंटकों का मार्ग पकड़ा। क्या फिर भी उन्हें मंजिल न मिलती?

सिद्धपुर से नर्मदा की ओर जाते हुए मार्ग में अनेक कष्ट मिले। कई दिनों तक खाने को कुछ न मिला। परन्तु परमात्मा का यह प्यारा पुत्र अमर पद पाने के लिए कदम-कदम पर कष्टों को हंसते-हंसते सहन करते हुए आगे बढ़ता ही गया।

नर्मदा के तट पर

भारत जैसे इस विशाल देश में, जिस पर परमात्मा की असीम कृपा है, कहीं पहाड़ियां हैं तो कहीं बीहड़ जंगल है, कहीं कलकल

करती नदियां अमृतधारा बहा रही है, तो कहीं असीम महासागर उत्ताल तरंगों से आकाश को छूना चाहता है। ऐसे रमणीय सुन्दर श्रेष्ठ देश के न मालूम कौन-से कोने में कौन-सी विभूति विराजमान है जिसके प्रकाश से अविद्या एवं अंधकार में भटकने वाले मानव का मनोरथ सिद्ध हो जाए।

गंगा और नर्मदा के दो ऐसे पवित्र किनारे हैं, जिनके तटों पर रह कर अनेक योगियों ने सिद्धियां प्राप्त की हैं। शुद्धचैतन्य भी सिद्धपुर से अहमदाबाद के दूधेश्वर महादेव के मन्दिर में कुछ दिन रहकर बड़ौदा में चैतन्य मठ में पहुंचे। चैतन्य मठ से वे नर्मदा के किनारे चाणोदकर्णाली पहुंच गए। यह स्थान प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यहां के अनेक मठ-मन्दिरों में साधु-संन्यासी रहते हैं। सच्चिदानन्द परमहंस नाम के संन्यासी से आपकी भेंट हुई। कुछ दिन इस रमणीय साधनास्थली में आपका स्वामी चिदाश्रम आदि अनेक सुयोग्य विद्वान महात्मओं से मिलन हुआ। उनसे जीव,प्रकृति, परमात्मा, जीवन, मृत्यु आदि अनेक गूढ़ विषयों पर शास्त्रीय चर्चा करके आपको अति आनन्द आता था। यहां रहकर आपने अनेक विद्वानों से अनेक ग्रथों का अध्ययन किया। खूब साधना करके अपने आपको कुन्दन बनाया।

शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचारी को खाना अपने हाथ से पकाना पड़ता था; क्योंकि यह नियम ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते समय बना लिया था खाना बनाने में समय काफी बर्बाद होता है। विद्याध्ययन में बाधा उपस्थित होती थी। सांसारिक नातों से मुक्ति पा ली; अब खाना बनाने के बखेड़े से भी छुटकारा पाने के लिए और स्वाध्याय साधना के लिए संन्यास लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा करने से परिचित व्यक्ति पहचान भी न सकेंगे, यह सोचकर वे दक्षिणी विद्वान साधु स्वामी श्री चिदाश्रमजी के पास गए। संन्यास की दीक्षा देने की बात कहने पर उस महात्मा ने स्पष्ट उत्तर दिया, "आपकी आयु कम है। अभी और साधना करनी होगी। छोटी उम्र में सन्यासी बनना उचित नहीं है। संन्यास धर्म का पालन कठिन है, युवक उसे सच्चाई से पाल सकेगा, इसमें मुझे शक है। वैदिक मर्यादा अनुसार २५ वर्ष ब्रह्मचारी बनकर खूब विद्याध्ययन करो। गृहस्थ में न जाकर सीधा सन्यास लेना हो तो अभी तुम्हारी आयु काफी कम है। मैं तुम्हें संन्यास की दीक्षा नहीं दे सकूंगा।"

उन्होंने साफ इन्कार कर दिया।

स्वामी चिदाश्रम जी के इन्कार करने पर शुद्धचैतन्य निराश नहीं हुए। योगाभ्यास तथा विद्याध्ययन चलता रहा। एक दिन उन्हें पता लगा कि डेढ़ कोस की दूरी पर जगल में टूटे हुए मकान में दक्षिण से दो महात्मा आए हैं। एक संन्यासी है जिसका नाम पूर्णानन्द है। दूसरा उनके साथ एक ब्रह्मचारी है। जिज्ञासु शुद्ध चैतन्य खोजते हुए उनकी सेवा में पहुंच गए। जिन खोजा तिनपाइया गहरे पानी पैठ'। स्वामी पूर्णानन्द से शुद्धचैतन्य की 'ब्रह्मविद्या' पर खूब चर्चा हुई। वे उनसे बड़े प्रभावित हुए और संन्यास देकर गुरु दीक्षा देने की प्रार्थना की। पहले तो स्वामी पूर्णानन्द जी को उनकी आयु कम देखकर संन्यासाश्रम की दीक्षा देने में हिचकिचाहट हुई; परन्तु जिज्ञासु ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य की प्रबल भावना तथा उनके अभ्यास और वैराग्य एवं साधना को देखकर उन्हें योग्यपात्र समझ कर संन्यासाश्रम की दीक्षा देना स्वीकार किया।

नर्मदा के पवित्र तट पर प्रातः की पावन वेला में स्वामी पूर्णानन्द जी ने शुद्धचैतन्य का मुण्डन कराकर गेरु-वस्त्र पहनाकर संन्यास की दीक्षा देकर उनका नाम दयानन्द सरस्वती रखा। छोटी अवस्था में संन्यास की दीक्षा देने पर चाणोदकर्णाली में यह घटना चर्चा का विषय बन गई। तरुणावस्था में संन्यास लेने के कारण थोड़े ही समय में काफी प्रसिद्ध हो गए।

नर्मदा के एकान्त और रमणीय तट पर कुछ समय रहकर स्वामी पूर्णानन्दजी द्वारिका की ओर चले गए और दयानन्द सरस्वती वहीं रहे। व्यासाश्रम में स्वामी योगानन्द नाम के एक अच्छे योगी रहते थे। उनका पता लगते ही दयानन्द सरस्वती उनके पास गए। योग-विद्या पर उनसे काफी ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया। उनकी कृपा दृष्टि से योग में पर्याप्त प्रवेश पा लिया। उसके पश्चात् आपको पता लगा कि छिनूर में कृष्ण शास्त्री नाम के एक दक्षिणी पण्डित व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित रहते हैं। उनके पास जाकर व्याकरण पढ़ा।

व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर ही रहे थे कि उनकी भेंट दो सन्तों से हो गई जिनके नाम थे—ज्वालानन्दजी पुरी तथा स्वामी शिवानन्द गिरी। ये दोनों योग्य विद्या में निपुण तपस्वी साधु थे। इनसे दयानन्द को योगक्रियाओं के गूढ़ रहस्यों की जानकारी प्राप्त हुई।

इनके द्वारा प्राप्त योग-विद्या से स्वामी दयानन्द को जीवन में बहुत लाभ हुआ। ये दोनों योगी कुछ समय वहां रहकर आगे बढ़ गए। स्वामी दयानन्द विशेष ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से माउंट-आबू की ओर जाने के लिए तैयार हो गए। आपको पता लगा कि आबू की रमणीक पहाड़ियों में महान तपस्वी योगी रहते हैं। आप सन् १८५५ तक वहीं रहकर योग-साधना करते रहे। उसके पश्चात् उत्तर की ओर चल पड़े।

उत्तर की ओर

गंगा के साथ सहस्त्रों वर्षों से आर्य जाति के धार्मिक भाव बंधे रहे हैं। हरिद्वार में गंगा पर्वतों को छोड़कर मैदानों में दाखिल होती है। यहां लोग सुगमता से पहुंच सकते हैं, इसलिए हरिद्वार एक बड़ा तीर्थ बन गया है। जो लोग गंगा के स्रोत तक जाना चाहते हैं, वे भी बहुधा हरिद्वार से ही यात्रा आरम्भ करते हैं। यही इच्छा दयानन्द सरस्वती को हरिद्वार की ओर खींच लाई।

१८५५ ई० में हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। योगियों और विद्वानों से मिलने का भी यह अच्छा अवसर था। दयानन्द सरस्वती हरिद्वार आ गए। चण्डी पर्वत के वन में योगाभ्यास करते रहे और बहुत-से साधु-सन्तों से मिले।

कुम्भ का मेला समाप्त होने पर ऋषि केश गए और वहां योग सीखने और सत्संग में कुछ समय व्यतीत किया। यहां एक ब्रह्मचारी और दो साधु उनसे आ मिले और यह मंडली मध्य हिमालय की यात्रा के लिए चल पड़ी। टिहरी में कुछ अच्छे पण्डित और साधु रहते थे। यह मंडली वहां पहुंची। यहां एक दिन एक पण्डित ने दया नन्दजी को खाने के लिए निमन्त्रित किया। जब स्वामी अपने साथी ब्रह्मचारी के साथ उसके निवास-स्थान पर पहुंचे तो देखा कि वहां किसी दावत के लिए कुछ पण्डित मांस बना रहे हैं। स्वामी वहां से लौट आए। थोड़ी देर बाद वह पण्डित उनके पास पहुंचा और भोजन के लिए चलने का आग्रह किया। स्वामी ने उससे कहा, "आप मांसाहारी हैं और मैं एक घोर शाकाहारी हूं। मेरे भोजन के लिए मांस तैयार करना नहीं चाहिए था। यदि मुझे भोजन कराने की

बहुत ही इच्छा है, तो कुछ फल अन्नादि भेज दो, मैं ब्रह्मचारी द्वारा पकवाकर यहीं भोजन कर लूंगा।"

उसने ऐसा ही किया।

उसी पण्डित से स्वामी दयानन्द ने कुछ पुस्तकें पढ़ने के लिए लीं। उनमें कुछ तन्त्र-ग्रंथ थे। उन्हें पढ़कर स्वामी को उनकी शिक्षा से बहुत घृणा हो गई, क्योंकि इनमें व्यभिचार आदि को धर्म का अंग बताया गया था।

टिहरी से यह मंडली श्रीनगर गई। वहां गंगा गिरि साधु से मेल हुआ। वह अच्छा विद्वान था और उसका स्वभाव भी स्वामी दयानन्द से मिलता था। दोनों में मित्रता हो गई और दो मास इकट्ठे रहे। उसके पश्चात् ये चारों रुद्र प्रयाग, अगस्त मुनि की समाधि और केदारनाथ होते हुए शिवपुरी पहुंचे। वहां चार महीने जाड़े के गुजारे। कुछ समय के लिए स्वामी दयानन्द के साथी उनसे अलग हो गए और स्वामी वहां से केदारनाथ वापस आ गए। वहां से गौरी कुण्ड, गुप्त काशी, भीम गुफा और त्रियुगी नारायण का मन्दिर देखने गए। वह स्थान देखकर केदारनाथ लौट आए, जहां उनके साथी भी इधर-उधर भ्रमण करने के बाद उनसे आ मिले। यहां से ऊंचे पर्वतों की चोटियों पर जाने लगे। किसी महात्मा योगी के दर्शन तो न हुए, परन्तु बहुत-से अद्भुत दृश्य देखने का अवसर मिल गया। यह भ्रमण और तपस्या का भ्रमण था। कई स्थानों पर झाड़ियों में वस्त्र ही नहीं शरीर के अंग भी फट जाते थे। बर्फ पर चलना होता था। जहां मार्ग अथवा पगडण्डी नहीं थी, वहां पर्वतों पर चढ़ना-उतरना पड़ता था। जान हर समय हथेली पर थी, परन्तु उद्देश्य पूरा करने की धुन थी, वह पूरा कर लिया। ओखी मठ और गुप्त काशी देखने के बाद बद्रीनाथ गए।

बद्रीनाथ का महन्त रावल एक अच्छा विद्वान था। उससे वेदों और दर्शनों पर प्रश्नोत्तर होते रहे। रावल से उन्होंने पूछा, "इधर-उधर पर्वतों में कोई योगी महात्मा है या नहीं?"

रावल ने कहा कि ऐसा कोई पुरुष उधर नहीं। कोई आ जाता है तो वह बद्रीनाथ में भी पहुंच जाता है।

स्वामी दयानन्द इस उत्तर से सन्तुष्ट न हुए। एक दिन सूर्य उदय होते ही निवास-स्थान से निकले और अलखनन्दा के किनारे जा पहुंचे। चलते-चलते उसका स्रोत-स्थल देखने की इच्छा हुई।

सारा दिन वर्फ पर और वर्फ के जल में चलना पड़ा। शरीर पर वस्त्र हल्के थे, बहुत कष्ट हुआ। उस दिन यह संदेह हुआ कि घोर तपस्या का त्याग करके, पुनः विद्याध्ययन में सारा समय लगाना शायद अच्छा होगा। सायंकाल मंदिर में वापस आ पहुंचे। रावल और उसके साथी बहुत चिन्ता कर रहे थे।

दूसरे दिन बद्रीनाथ से वापस हो लिए। रामपुर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़ मुक्तेश्वर होते हुए गंगा के तट पर आ पहुंचे। फर्रुखाबाद आए और वहां से कानपुर पहुंचे। कानपुर और प्रयाग के बीच के नगरों तथा ग्रामों में पांच मास व्यतीत किए। सितम्बर, १८५६ ई० के आरम्भ में काशी पहुंचे। उत्तराखण्ड में स्वामीजी ने एक वर्ष के लगभग भ्रमण किया। केदारनाथ और बद्रीनाथ समुद्र से २३,००० फीट के करीब ऊंचे हैं। इन स्थानों पर पहुंचना कठिन परिश्रम का फल है। उस समय तो आजकल की अपेक्षा भी कठिन काम था। स्वामीजी का शरीर अच्छा बलवान था, परन्तु इस भ्रमण ने उन पर बहुत बुरा असर किया।

जब किसी मनुष्य का शरीर शिथिल हो जाता है तो उसके शरीर को आराम की आवश्यकता होती है। बहुत से लोग समझते हैं कि उन्हें यह आराम किसी नशीली चीज के प्रयोग से मिल सकता है। स्वामी दयानन्द को भी अपने रोग का यही निदान सूझा। वह काशी से दुर्गा के मन्दिर पर, जो चण्डालगढ़ में गए हैं। वहां दस दिन ठहरे। यहां उन्हें भांग पीने की आदत पड़ गई। भांग के असर से वह कई बार मदहोश हो जाते थे। एक दिन इसी अवस्था में चण्डाल गढ़ के निकट एक ग्राम में गए और एक शिवालय में सो गए। निद्रा में एक स्वप्न देखा कि पार्वती और महादेव वार्तालाप कर रहे हैं और इस वार्तालाप का विषय स्वामी दयानन्द ही है। पार्वती कह रही थी कि दयानन्द को विवाह कर लेना चाहिए। महादेव इसके विरुद्ध कह रहे थे और उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि में दयानन्द की तत्कालीन अवस्था की ओर संकेत किया। यहां स्वप्न टूट गया और स्वामी दयानन्द की आंख खुल गई। स्वप्न का ध्यान करके उन्हें बहुत दुःख और क्लेश हुआ।

शिवालय में नन्दी की मूर्ति थी। अपने वस्त्रों और पुस्तकों को उसकी पीठ पर रखकर वह सोच में पड़ गए। मूर्ति अन्दर से खाली थी। उनकी दृष्टि अन्दर की ओर पड़ी और उन्होंने देखा कि वहां

एक मनुष्य बैठा है। उन्होंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया। वह वहां से निकल भागा। उन्होंने शेष रात्रि वहां विश्राम किया। प्रातःकाल एक बूढ़ी स्त्री ने वहां आकर पूजा की। तत्पश्चात् गुड़ और दही का चढ़ावा नन्दी देवता को चढ़ाया। स्वामी दयानन्द को भूख लगी हुई थी। उन्होंने ये पदार्थ खा लिए। दही बहुत खट्टा था, जिससे भांग का जो असर रह गया था, वह दूर हो गया।

नर्मदा के स्रोत की ओर

केदारनाथ और बद्रीनाथ की यात्रा एक कठिन यात्रा थी, परन्तु उसमें कुछ सुविधाएं भी थीं। नदियों के साथ-साथ मार्ग बने थे। जहां मार्ग न थे, वहां पगडंडियां मिल जाती थीं। यात्रियों के ठहरने के लिए स्थान भी थे और यात्री बहुधा मंडलियों में चलते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नर्मदा के स्रोत तक जाने वालों की संख्या थोड़ी होती थी और मार्ग में सुविधाएं भी न थीं। दयानन्द को इस यात्रा के लिए कोई साथी नहीं मिला और आखिर वह अकेले ही चल पड़े। उन्होंने सोचा कि नदी के साथ-साथ ऊपर की ओर चलते जाने पर अन्त में स्रोत पर अवश्य पहुंच ही जाएंगे। परन्तु वहां तो नदी के किनारे चलते जाना ही सम्भव न था। उन जंगलों में चलना पड़ा जहां कोई मार्ग न था। कांटों वाले वृक्ष थे। अलबत्ता और घना घास था। कहीं चलकर, कहीं बैठकर अथवा घुटनों के बल, और कहीं-कहीं रेंगकर भी आगे बढ़ना पड़ा। कहीं-कहीं बस्ती भी आ जाती थी। इस जंगल में अभी थोड़ी दूर ही गए थे कि एक रीछ सामने आ गया। वह पिछले पैरों पर खड़ा हो गया और ऐसा प्रतीत होता था कि स्वामी पर झपटने वाला है। स्वामी थोड़ी देर तक तो गतिहीन खड़े रहे, फिर अपना सोटा उसकी ओर उठाया। रीछ उल्टे पांव वापस चला गया।

रीछ की गरज सुनकर कुछ लोग ग्राम से लाठियां और शिकारी कुत्ते लेकर आ गए। रीछ तो वहां से जा चुका था। उन्होंने स्वामी दयानन्द को चेतावनी दी कि आगे जंगल में कई ऐसे जानवर मिलेंगे वह आगे न जावें। स्वामीजी स्रोत तक पहुंचने का निश्चय कर चुके

थे। इस चेतावनी का कुछ भी प्रभाव उन पर न पड़ा। इस पर उन लोगों ने स्वामी को एक लम्बी और मोटी लाठी दी ताकि वह इसे प्रयोग में ला सकें स्वामी ने लाठी ले तो ली, परन्तु आगे जाते हुए उसे वहीं छोड़ दिया। 'आजमाए हुए मित्र के समान कोई सहायक नहीं'—उन्होंने सोचा कि जो सोटा आज काम दे सकता है, वह कल भी काम दे सकेगा।

रात्रि एक वृक्ष के नीचे व्यतीत की। प्रातः हाथ-मुंह धोकर प्रार्थना-उपासना के लिए बैठे ही थे कि एक ढोल की आवाज कान में पड़ी। थोड़ी देर बाद उन्होंने एक जलूस देखा। वे लोग एक धार्मिक त्योहार मनाने जा रहे थे। एक यात्री को देखकर वह स्वामी के पास आए और पूछा कि कहां से आ रहे हैं और कहां जा रहे हैं?

स्वामी ने बताया कि काशी से आ रहे हैं और नर्मदा का स्रोत देखने का संकल्प है। वे लोग आगे चले गए और स्वामी उपासना में लग गए। कुछ समय बाद उनमें से एक पुरुष फिर स्वामी के पास आया और उनसे कहने लगा कि वह उनके साथ ग्राम में चलें। स्वामी ने यह स्वीकार न किया। दो पुरुष रात्रि के लिए उनके पास ठहरे और ग्राम से उनके लिए दूध भी आ गया। सूर्य उदय होने तक अच्छी गहरी नींद सोए रहे। दूसरे दिन प्रार्थना-उपासना करने के बाद आगे चल पड़े।

सन्' ५७ की क्रांति

स्वामी दयानन्द सन् १८५५ में नर्मदा के स्रोत की ओर गए। तीन वर्ष तक वे भ्रमण करते हुए अनेक स्थानों पर अनेक व्यक्तियों से मिले। देश की विदेशियों द्वारा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दुर्दशा को देखने का उन्हें अच्छा अवसर मिला। अंग्रेजों के अत्याचारों का दिग्दर्शन करके व्यथित हो उठे। महारानी झांसी, नाना साहब आदि अनेक गणमान्य व्यक्तियों के अधिकारों का हनन किया गया। उन्होंने अंग्रजों के खिलाफ आवाज उठाई। अंग्रेजों से मुकाबला करना साधारण राज्यसत्ता की शक्ति के बाहर की बात थी। वे अंग्रेजों को उखाड़ फेंकने के लिए सारे देश में क्रांति की ज्वाला

एक साथ जलाना चाहते थे। नाना साहब ने इस कार्य के लिए साधु संन्यासियों द्वारा देश में धर्म प्रचार के सहारे क्रान्ति पैदा करने की योजना बनाई। इसके लिए उन्होंने तीर्थयात्रा का आयोजन किया। जहां उन्हें किसी भी क्रान्तिकारी विचार रखने वाले देशभक्त साधु संन्यासी का पता लगता वे वहीं पहुंच जाते। कनखल हरिद्वार में वयोवृद्ध स्वामी सम्पूर्णानन्दजी देशभक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। नाना साहब इनके पास गए और देश को आजादी दिलाने के कार्य में मार्गदर्शन और सहयोग देने की प्रार्थना की। स्वामी सम्पूर्णानन्दजी ने १०८ वर्ष की अवस्था हो जाने के कारण स्वयं सक्रिय सहयोग देने में असमर्थता प्रकट की। साथ में उन्होंने नाना साहब को यह भी कहा, "इस कार्य में दयानन्द सरस्वती नाम के तेजस्वी युवा संन्यासी आपको अच्छा सहयोग दे सकते हैं। उनके मन में भी देश-भक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी है। वह मुझे हरिद्वार के कुम्भ के मेले के समय मिले थे। और कुछ समय पूर्व द्रोणासर से लौटने पर मेरे पास आए थे।"

नाना साहब ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने कहा कि वे मेरे पास आते रहते हैं, अबकी बार वे आएंगे तो मैं आपसे मिलने की बात उनसे करूंगा।

स्वामी दयानन्द गंगोत्री, बद्रीनाथ, गढ़वाल, रुहेलखण्ड, दोआब होकर पुनः जब स्वामी सम्पूर्णानन्दजी के पास कनखल पहुंचे तो उन्होंने नाना साहब की बात उन्हें सुनाई। स्वामी दयानन्द को प्रसन्नता हुई। वे मई, १८५६ में नाना साहब से बिठूर में मिलने गए। दोनों नेताओं ने अंग्रेजों को देश में से निकालने के लिए निम्न प्रकार की योजना बनाई।

साधु-संन्यासियों द्वारा भारतीय सैनिकों में अंग्रेजों द्वारा कारतूसों पर लगाई जा रही 'गौ और सूअर' की चर्बी का उल्लेख करके उनकी धार्मिक भावनाओं को उभार कर अंग्रेजों के खिलाफ बगावत पैदा की जाए। संन्यासियों द्वारा गुप्त रूप से रोटियों में गुप्त संदेश को भेजने की योजना बनाई गई। स्वामी दयानन्द के नेतृत्व में तमाम सैनिक प्रतिष्ठानों में साधुओं के वेश में क्रान्ति की ज्वाला भड़काई जाने लगी। स्वामी दयानन्द को इस कार्य के लिए दक्षिण में रामेश्वरम् तक बंगाल में गंगासागर तक, उत्तर में गंगोत्री तक की पैदल-यात्रा करनी पड़ी।

नाना साहब, महारानी लक्ष्मीबाई, तात्यां टोपे, अजीमउल्ला खां आदि नेताओं ने निश्चित तिथि को एकसाथ सारे देश में विस्फोट करने की योजना बनाई। दुर्भाग्यवश योजना से पूर्व ही मेरठ और रुड़की के सैनिक प्रतिष्ठानों में क्रान्ति की ज्वाला फूट पड़ी। कुछ विलासी और स्वार्थी राजाओं ने सहयोग भी नहीं दिया। अंग्रेजों ने देशभक्त सैनिकों एव प्रजाजनों को अमानवीय ढंग से कुचल दिया। महारानी झांसी लक्ष्मीबाई युद्ध में मारी गईं। तात्यां टोपे शहीद हो गए। नाना साहब तथा अजीम उल्ला खां को स्वामी दयानन्द ने कहा, "सौराष्ट्र की तरफ चले जाओ, वहां अंग्रेजों का विशेष प्रभाव नहीं है। देशी राज्यों के कुछ राजे-महराजे देशभक्त हैं—उनके सहयोग से शायद कुछ कार्य हो सके।"

सौराष्ट्र में जाने के लिए राजस्थान होकर जाने का मार्ग है। अजमेर और आबू मार्ग में पड़ता था। इन दोनों स्थानों पर अंग्रेजों के विशेष अधिकारी रहते थे—उनकी आंख बचाकर निकलना कठिन था। नाना साहब अपने साथियों के साथ नेपाल चले गए। वहां अपने व्यक्तियों द्वारा एक स्थान पर आग लगवाकर यह प्रसिद्ध कर दिया कि नाना साहब मर गये। पुलिस और गुप्तचर विभाग के व्यक्तियों से पीछा छुड़ाने के लिए यह प्लान बनाया गया। अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास हो गया कि नाना साहब इस दुनिया में नहीं रहे। नाना साहब यहां अब एक साधु के रूप में नेपाल से अफ-गानिस्तान गए। वहां एक सिंधी व्यापारी, जो काजू, किशमिश, अखरोट, नेजे आदि सूखे मेवे का कार्य करते थे, उनके साथ शिकार पुर (सिंध) में उनके निवास-स्थान पर पहुंचे। सिन्धियों को साधु-संतों के प्रति बड़ी श्रद्धा होती है। प्रतिभाशाली-विशालकाय इस संन्यासी को उस व्यापारी ने बड़ी श्रद्धा से कुछ दिन अपने पास रखा। कुछ दिन वहां रहकर थरपारकरबदीन के मार्ग से होकर नाना साहब साधु के वेश में कच्छ के प्रसिद्ध नारायण सरोवर तीर्थ स्थान होकर मोरवी पहुंच गए। मोरवी नरेश स्वाभिमानी देशभक्त हैं—यह उन्होंने स्वामी दयानन्द से सुन रखा था। मोरवी के नगर सेठ को जब यह पता लगा कि शहर में एक विद्वान और प्रतिभा-शाली साधु आया है, तब वे उनको अपने घर ले गये। नाना साहब कुछ समय वहां रहकर भावनगर के पास शिहोरा नामक स्थान पर उनके साथी अजीमउल्ला खां को मिलने गये—वह पहले ही फकीर

के वेश में वहां पहुंच गये थे। नाना साहब भी शहर शिहोर से एक मील की दूरी पर एक रमणीय स्थान पर, जहां झरने बहते थे, 'दयानन्द योगी' के नाम से कुटिया बनाकर रहने लगे। दोनों क्रान्तिकारी प्रायः रात्रि को आपस में मिलते थे। शिहोर के पास ही सोनगढ़ में अंग्रेजों का सैनिक प्रतिष्ठान था। अंग्रेजों को दयानन्द योगी पर कुछ सन्देह-सा होने लगा। इसकी जानकारी नाना साहब को अजीम-उल्ला खां द्वारा मिली। नाना साहब वहां से आंख बचाकर मोरवी नगरसेठ के यहां पहुंच गये। वहां काफी समय तक रहे। अवस्था और प्रवासों ने शरीर को जीर्ण-शीर्ण बना दिया था। मृत्यु सिर पर सवार हो गई मरने से पूर्व उन्होंने मोरवी नरेश सरवाघजी ठाकोर को अपने पास बुलाकर अपनी गुप्ती देते हुए कहा, "मेरे मरने पर इस गुप्ती को खोलना। मेरी मृत्यु पर दाह-संस्कार करना तथा अपने राज्य का विकास करना।

आखिर एक दिन साधु के वेश में नाना साहब की मृत्यु हो गई। सरवाघजी ठाकोर ने जब गुप्ती को खोला तो उसमें से अमूल्य हीरे-जवाहिरात निकले। महात्मा की शानदार श्मशान-यात्रा निकाली गई। जहां उनका दाह-संस्कार किया गया, वहां एक समाधि बनाई गई। यह समाधि मोरवी रेलवे स्टेशन के पीछे है, जहां इस समय आश्रम भी बन गया है। आगे चलकर मोरवी नरेश सरवाघजी ठाकोर ने गुप्ती के धन से मोरवी का योजनापूर्वक सुन्दर निर्माण किया। राज्य में रेलवे लाइन डलवाकर ट्रेन की भी व्यवस्था की।

सन् ५७ की क्रान्ति में असफलता मिलने पर स्वामी दयानन्द हताश और निराश हो गये। एक विचाधारा, एक जाति, एक संगठन, एक भाषा, एक राष्ट्र का अभाव था। कुरीतियों, कुप्रथाओं ने आर्य सन्तानों को निर्जीव बना दिया था। इन समस्याओं के समाधान की जानकारी लेने के लिए स्वामी दयानन्द, स्वामी सम्पूर्णानन्द की सेवा में गये। उन्होंने अपने शिष्य स्वामी विरजानंन्द के पास जाकर इस बात का समाधान प्राप्त करने को कहा। सम्पूर्णानन्द का आशीर्वाद लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती विरजानन्दजी के पास मथुरा चले गये।

गुरु विरजानन्द की सेवा में

नर्मदा के तट पर भ्रमण करते हुए स्वामी दयानन्द ने सुना कि मथुरा में एक दण्डीजी व्याकरण के बहुत बड़े विद्वान हैं। उनका नाम विरजानन्द था। वह पंजाब में पैदा हुए थे। बालपन में ही चेचक के कारण दोनों आंखों की ज्योति जाती रही थी। कुछ वर्षों के बाद माता-पिता का भी देहान्त हो गया। भाई-भावज का सलूक अच्छा न होने कारण १२ वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया और ऋषिकेश जा पहुंचे। ऋषिकेश और हरिद्वार में संस्कृत विद्या पढ़ी और फिर इसे पढ़ना आरम्भ कर दिया था। कुछ समय पीछे मथुरा चले गये और जीवनपर्यन्त वहां रहे।

स्वामी दयानन्द १८६० ई० के अन्त के करीब मथुरा में पहुंचे। साधारण संन्यासियों की तरह वह रहते थे। एक कोपीन ही उनका सारा लिबास था। शरीर पर भस्म लगाने और रुद्राक्ष की माला पहनते थे। एक मुंडासा सिर पर, एक बड़ी लाठी एक हाथ में और एक पुस्तक दूसरे हाथ में—यही उनका सारा सामान था।

स्वामी दयानन्द दण्डी विरजानन्दजी के स्थान पर गए। द्वार अन्दर से बन्द था। उन्होंने उसे खटखटाया।

दण्डीजी ने अन्दर से पूछा—"कौन है?"

दयानन्द ने उत्तर दिया, "यही जानने आया हूं, भगवन् कि मैं कौन हूं!"

विरजानन्द—"नाम?"

दयानन्द—"दयानन्द सरस्वती।"

विरजानन्द—"क्या काम है?"

दयानन्द—"विद्या पढ़ने की अभिलाषा है।"

स्वामी विरजानन्द ने द्वार खोला और कहा—"वह तो प्राचीन ग्रन्थों का ही अध्ययन कराते हैं और इन्हीं ग्रन्थों को पढ़ाते हैं।"

स्वामी दयानन्द ने कहा—"मुझे तो आपसे पढ़ना है। जो कुछ आप पढ़ाएंगे, मेरे लिए वही हितकर है।" विरजानन्दजी ने उन्हें

कहा कि वह संन्यासी हैं, पहले अपने निवास-स्थान और भोजन का प्रबन्ध कर लें।

स्वामी दयानन्द पहले कुब्जा के कुएं पर ठहरे, फिर लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाकर रहे। कुछ दिन दुर्गा खत्री के यहां से कभी सूखे चने और कभी चनों की रोटी मिलती रही। पीछे बाबा अमरलाल जोशी के घर से उन्हें भोजन मिलने लगा। जोशीजी जिस श्रद्धा से यह सहायता देते थे, उनकी बाबत स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि जब तक उनके भोजन का प्रबन्ध न हो जाता था, जोशीजी आप भोजन न करते थे। "जब मैं विद्याध्ययन करता था, मुझपर जो उपकार जोशी बाबा ने किए, उन्हें मैं कभी न भूलूंगा।"

स्वामी दयानन्द तीस वर्ष मथुरा में रहे। अपने अपूर्ण जीवन-वृतान्त में मथुरा-निवासी की बाबत लिखते हुए उन्होंने केवल स्वामी विरजानन्द और अमरलाल के नाम का जिक्र किया है। अमरलाल की श्रद्धा तो उच्च कोटि की थी ही, स्वामी दयानन्द का कृतज्ञता का भाव उससे भी उच्च कोटि का था। हरदेव पत्थर वाले ने दूध के लिए दो रुपए मासिक देना आरम्भ किया और गोवर्धनलाल सर्राफ ने चार आना मासिक तेल के लिए दिए।

स्वामी दयानन्द ने विरजानन्द से व्याकरण के अष्टाध्यायी और महाभारत आदि अनेक ग्रन्थ पढ़े। परन्तु जो कुछ उन्होंने दण्डी जी से पढ़ा, उसकी अपेक्षा जो कुछ उनसे सीखा, वह अधिक मूल्यवान था। विरजानन्दजी ने स्वामी दयानन्द की आत्मा पर अपनी छाप लगा दी और उनके दृष्टिकोण को बदल दिया। उन्हें स्वयं वेदों और प्राचीन आर्य-ग्रन्थों में असीम श्रद्धा थी। यह श्रद्धा उन्होंने दयानन्द के मस्तिष्क और हृदय में भर दी। स्वामी दयानन्द ने पीछे जो किया, उसकी नींव में यही भाव था—'वैदिक काल की ओर देखो, वैदिक आदर्शों को अपने जीवन में दाखिल करो।' नाविक देखता पीछे को ओर है और नाव को चलाता आगे की ओर है। स्वामी दयानन्द ऐसे ही नाविक थे।

स्वामी दयानन्द विरजानन्दजी के पास प्राचीन सभ्यता के अनुसार गुरु-शिष्य के भाव से रहे। विरजानन्दजी अपना निर्वाह तो करते ही थे, परन्तु आजकल की प्रथा के अनुसार विद्या को बेचते नहीं थे। और स्वामी दयानन्द तो आप मांगकर खाते थे, वह दे ही क्या सकते थे? शारीरिक सेवा और श्रद्धा से ही कुछ ऋण उतारते

थे। दण्डीजी के स्नान के लिए यमुना से पानी भर लाया करते थे और मकान में झाड़ू दे दिया करते थे। स्वामी विरजानन्द का स्वभाव कुछ तेज था। चक्षुहीन होने के कारण उनके लिए विशाल दुनिया एक तंग दुनिया बन गई थी।

इसके रंग-रूप जो आनन्द साधारण मनुष्यों को दे सकते हैं, विरजानन्दजी के लिए उनका अस्तित्व ही न था। निकट के सम्बन्धियों ने जो कुछ उनके साथ किया था, वह भी जीवन को कड़ुवा बनाने वाला ही था। यदि ऐसे पुरुष का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाए, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। वह कभी-कभी स्वामी दयानन्द को दण्ड भी दे देते थे। एक दिन उन्हें लाठी से मारा। स्वामी दयानन्द ने कहा, "गुरुजी! आपके हाथ कोमल हैं और मेरा शरीर कठोर है। मुझे मारने में मेरी अपेक्षा आपको अधिक कष्ट होता है। जब दण्ड देना हो तो किसी और से दिलवा दिया करें।" इस चोट का निशान स्वामी दयानन्द के हाथ पर जीवन-पर्यन्त रहा। इसे देख कर वह दण्डजी और उनके उपकार को स्मरण किया करते थे और कहते थे, "यह गुरुजी की लगाई हुई छाप है।" भारतमाता की गोद में अब क्यों विरजानन्द जैसे गुरु और दयानन्द जैसे शिष्य दिखाई देते ?'

एक बार दण्डीजी ने उन्हें बुरा-भला कहा और छड़ी से मारा उनके एक सहपाठी ने विरजानन्दजी से कहा, महाराज! हम तो गृहस्थी हैं, दयानन्द संन्यासी है। संन्यासी को बुरा-भला कहना और मारना न चाहिए।"

विरजानन्दजी ने कहा, "अच्छा, आगे के लिए इसका ध्यान रखेंगे।"

बाहर आकर स्वामी दयानन्द ने अपने सहपाठी से कहा, "तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए था। दण्डी जी जो कुछ करते हैं हमारे हित के लिए करते हैं।"

एक बार स्वामी दयानन्द ने घर में झाड़ू लगाई, मगर कूड़ा बाहर न फेंका, एक कोने में ही रख दिया। विरजानन्द उधर से गुजरे और उनका पैर कूड़े से टकराया। बहुत रुष्ट हुए और स्वामी दयानन्द से कहा, "यहां से चले जाओ।" स्वामी दयानन्द की विद्या-समाप्ति के दिन निकट आ रहे थे। उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन्होंने क्षमा मांगी। दूसरों से भी कहलवाया दण्डीजी ने क्षमा कर

दिया।

अब गुरु और शिष्य के अलग होने का समय आ पहुंचा। स्वामी दयानन्द ने विरजानन्दजी से जाने की आज्ञा मांगी। प्रचलित प्रथानुसार विद्या-समाप्ति पर शिष्य गुरु को कुछ दक्षिणा भेंट करता है।"

विरजानन्दजी ने कहा, "विद्या-समाप्ति पर जा रहे हो, कुछ दक्षिणा भी दोगे?"

स्वामी दयानन्द ने कहा, "मेरे पास क्या है जो आपको भेंट करूं? आप ही आज्ञा करें।"

स्वामी विरजानन्द ने कहा, "मुझे सांसारिक सम्पत्ति नहीं चाहिए, न ही वह तुम्हारे पास है। मैं तुमसे वही मांगता हूं जो तुम दे सकते हो, और तुम हीं दे सकते हो। देश में अज्ञान और अन्धकार फैला है। इसे दूर करो और प्राचीन सभ्यता एवं आर्य ग्रंथों का प्रचार करो।"

विरजानन्दजी इसी के लिए स्वामी दयानन्द को तीन वर्षों से तैयार कर रहे थे। स्वामी दयानन्द ने गुरु के चरणों में सिर झुकाया और उनका आशीर्वाद लेकर चल दिए।

दीपक जलता है, तो उसके प्रकाश की किरणें स्वयं ही उसके इर्द-गिर्द फैल जाती हैं। स्वामी दयानन्द ने जो ज्ञान प्राप्त किया था उसे वह अपने सीने में ताला लगाकर बन्द नहीं रख सकते थे। परन्तु एक स्थान पर पड़े हुए दीपक का प्रकाश बहुत दूर नहीं पहुंचता। सूर्य और चन्द्र भी अपने प्रकाश को विस्तृत करने के लिए गतिशील होते हैं। दण्डी विरजानन्द स्वामी दयानन्द को परिव्राजक, चलता-फिरता प्रकाश का पुंज बनाना चाहते थे। स्वामी दयानन्द ने इसको अपने लिए जीवन का उद्देश्य स्वीकार कर लिया।

कार्यक्षेत्र में

मथुरा से स्वामी दयानन्द आगरा गए और वहां डेढ़ वर्ष के करीब एक बाग में ठहरे। साधारण संन्यासियों की तरह दर्शकों को बातचीत में उपदेश दे देते थे और कुछ विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाते थे। किसी समय अधिकारियों को योग क्रिया भी सिखाते थे।

नवीन वेदान्त पर बहुधा बातचीत होती थी। यह साधु-सन्तों का प्रिय दर्शन है। कुछ लोगों के कहने पर पंचदशी की कथा आरम्भ की। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने यह पुस्तक पहले नहीं पढ़ी थी। कथा करते हुए एक दिन एक वाक्य पढ़ा जिसमें लिखा था कि परमात्मा को भी कभी-कभी भ्रम हो जाता है। यह पढ़ते ही पुस्तक परे रख दी और कहा, "यह तो मिथ्या विचारों का प्रचार करने वाली पुस्तक है। परमात्मा को भ्रम कैसे हो सकता है?" इसके पश्चात इस पुस्तक की कथा कभी नहीं की।

कहते हैं, उसका एक सहपाठी माथुरा से आया और स्वामी से मिला। उसने कहा, "दण्डीजी को आपसे बड़ी आशाएं थी। वह बहुत निराश हैं और कहते हैं कि दयानन्द ने भी, जिससे इतनी आशा थी, कुछ नहीं किया।" स्वामी दयानन्द ने कहा, "मुझे गुरुजी का आदेश भूला नहीं, परन्तु अभी उसका समय नहीं आया। कुछ दिन और तैयारी में लगेंगे।" आगरा-निवास का समय तैयारी का समय था। वह कोई विशेष काम नहीं कर रहे थे, 'जिसे दूसरे देख सकें, परन्तु उनका मन अपने विचारों को साफ और उज्जवल करने में लगा हुआ था। स्वामी दयानन्द आगरा से निकले और राजपूताना की ओर चल पड़े। स्वामी विरजानन्द ने उन्हें कहा था कि प्राचीन संभ्यता को पुनर्जीवित करने का यत्न करें उस समय की अवस्था आज कल की अवस्था से बहुत भिन्न थी। आगरा में उन्हें कोई वेद की पुस्तक नहीं मिल सकी। उन्हें बताया गया था कि धौलपुर में उन्हें वेद मिल जाएंगे। वह धौलपुर गए और वहां उन्हें वेद के कुछ पन्ने मिल सके, जिन्हें उन्होंने अपर्याप्त समझा। धौलपुर से ग्वालियर गए जहां उन दिनों महाराज की आज्ञा से 'भागवत सप्ताह' मनाया जा रहा था। तीन चार सौ के लगभग ब्राह्मण इसके लिए इक्ट्ठे हुए थे। स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा और 'भागवत' का खण्डन करना आरम्भ कर दिया था। उनकी इच्छा थीं कि पण्डितों से शास्त्रार्थ हो जाए, परन्तु कोई पण्डित इसके लिए तैयार न हुआ। सप्ताह की समाप्ति पर अपनी-अपनी दक्षिणा लेकर पण्डित घरों को लौट गए।

ग्वालियर से स्वामी करौली गए। इस अवकाश में उन्हें वेद की पुस्तक मिल चुकी थी। करौली में कई मास ठहरे और वेद का पाठ करते रहे।

करौली से जयपुर गए। वहां कुछ अच्छे पण्डित थे। उनके साथ-शास्त्रार्थ करने का निश्चय हुआ। यह शास्त्रार्थ वास्तव में सत्यासत्य का निर्णय करना नहीं था, वल्कि व्याकरण की योग्यता की परीक्षा लेना था। एक पण्डित मैथिल ओझा ने आपसे पूछा, "आपके अर्थों का आधार क्या है ?"

उन्होंने कहा, "महाभाष्य।"

पण्डित ओझा ने कहा, "महाभाष्य की गणना व्याकरण में नहीं है।"

उस समय बहुतेरे पण्डितों का ऐसा ही विचार होगा।

दूसरी ओर स्वामी दयानन्द की दृष्टि में मुख्य शास्त्र 'महाभाष्य' ही था। उन्होंने कहा, "वहुत अच्छा, आप लिख दीजिए कि 'महाभाष्य' की गणना व्याकरण में नहीं है।" पण्डित यह बात लिख कर देने के लिए उद्यत न थे। इसी वाद-विवाद में वहुत समय व्यतीत हो गया और विसर्जित हो गई।

यह शास्त्रार्थ व व्याकरणार्थ राजराजेश्वर मन्दिर में, जो महाराजा के महलों में था, हुआ। एक बार फिर स्वामी को महलों में बुलाया गया, ताकि महाराजा साहब से उनकी भेंट हो सके। महलों में पहुंचकर वह राजजेश्वर के मन्दिर में जा बैठे और मूर्ति को नमस्कार न किया। जो मनुष्य उन्हें बुलाकर ले गया था। वह उन्हें वहां छोड़कर महाराजा साहब को सूचना देने गया। कुछ समय पीछे लौटकर आया और कहा, "महाराज भ्रमण को गए हुए हैं, फिर पधारिएगा।" यह कहना कठिन है कि उसने सत्य कहा व समझा कि ऐसे पुरुष महाराज से न हीं मिलें तो अच्छा है। स्वामी अपने निवास स्थान पर लौट गए।

मार्च १८६६ ई० में वह पुष्कर पहुंचे और ब्रह्मा मन्दिर में डेरा डाला। यह एक वड़ा मन्दिर है और कहते हैं कि ब्रह्मा की पूजा सारे देश में केवल इसी मन्दिर में होती है। पुष्कर पहुंचने पर उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन आरम्भ कर दिया। वहां के पंडितों में कुछ खलवली मची। उन्होंने शास्त्रार्थ का प्रवन्ध किया। यह शास्त्रार्थ व्यंकट शास्त्रों के स्थान पर हुआ। वहां तीन-चार सौ ब्राह्मण जमा थे। उनकी ओर से व्यंकट शास्त्री बोले। यह सम्वाद संस्कृत में हुआ। सम्वाद कुछ देर होता रहा। इसके पश्चात व्यंकट शास्त्री ने ब्राह्मणों से कहा, "जो दण्डी जी कहते हैं, वही सत्य है।

इनके साथ विवाद करने का कोई लाभ नहीं।" ब्राह्मण निराश होकर अपने-अपने घरों को चले गए।

उस समय ब्रह्माजी के मन्दिर में शिवदयालु पुजारी था। जब वह पूजा करता, तो स्वामी उसे कहते, "अरे शिवदयालु, तेरा ब्रह्मा मुंह से बोलता है या तेरे से बात करता है?" जब वह नक्कारा बजाता, तो कहते, "अरे चमड़ा कूटने से क्या मिलता है?"

स्वामी को दो बार भोजन मन्दिर से मिल जाया करता था। रात्रि को दूध भी मिलता था। एक दिन उन्हें ज्ञात हुआ कि जो दूध उन्हें दिया गया था, पहले उसका भोग ब्रह्मा को लगाया गया था। ऐसा ही प्रतिदिन होता होगा, यह जानकर स्वामी दयानन्द को दुःख हुआ और महन्त से कहा, "अरे पत्थर का भोग लगाकर हमें दूध पिलाया!"

महन्त को क्रोध आया। उसने कहा, "ब्रह्मा की मूर्ति को पत्थर कहता है, आगे के लिए इसे दूध न दिया जाए।"

महन्त का दूध बच गया और स्वामी दयानन्द झूठा दूध पीने से बच गए।

उस समय स्वामी 'मूर्तिपूजा' और 'भागवत' का खंडन करते थे। रुद्राक्ष पहनते और माथे पर शैवों का चिह्न भस्म से लगाते थे। वैष्णव-मत का खण्डन करते थे और उनकी कठियां उतरवा देने का यत्न करते थे। जो कंठी उतार देता, उसे रुद्राक्ष की माला पहना देते। इस प्रकार वह शैवों और वैष्णवों के झगड़े में एक का पक्ष लेते थे और इसके साथ मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। उनके उपदेश में कुछ लोगों को परस्पर विरोध प्रतीत होता था। एक ऐसे पुरुष ने पूछा, "आप शिव को मानते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "हम केवल एक सच्चिदानन्द परमेश्वर को मानते हैं। 'शिव' का अर्थ कल्याण करने वाला है। हम कल्याण कारी परमेश्वर को मानते हैं। पार्वती के पति शिव को नहीं मानते।"

विचारों की अपेक्षा कर्मों का परिवर्तन धीमा होता है। विचार बदलने पर भी हमारा व्यवहार कुछ समय के लिए पहले का सा ही बना रहता है। स्वामी दयानन्द की बुद्धि अब पार्वती के पति शिव में विश्वास नहीं करती थी, परन्तु शैव-मत के चिन्हों का त्याग अभी वे नहीं कर सके थे। वैष्णव और शैव मतों के झगड़े में वह शैव मत

का मंडन करते थे। उनका शैव मत प्रचलित शैव मत से भिन्न था।

स्वामी दयानन्द ढाई मास पुष्कर में रहे और तत्पश्चात् अजमेर लौट आए। वहां वंशीलाल के बाग में ठहरे। नगर के कई स्थानों पर विज्ञापन लगवा दिए कि मूर्तिपूजा आदि के सम्बन्ध मे जिस किसी को सन्देह हो, आकर शास्त्रार्थ कर ले। आगरा निवास के दिनों में उनका काम दर्शकों से बातचीत करना था। अब जबकि वह प्रचार की रीति पर तजुर्बे कर रहे थे, उन्होंने शास्त्रार्थ को भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलत कर लिया था।

अजमेर में हिन्दुओं और जैनियों से कुछ सम्वाद हुए, परन्तु जिसे अच्छा शास्त्रार्थ कह सकते हैं, वह ईसाई पादरियों से हुआ पादरियों के प्रतिनिधि राबसन ग्रे और शूलवड थे। पहले तीन दिन ईश्वर, जीव, सृष्टिक्रम और वेद के विषय पर सम्वाद हुआ। चौथे दिन ईसाई मत के मुख्य सिद्धान्तों, ईसामसीह के परमात्मा होने, मृत्यु के पश्चात् पुनः जीवित हो जाने और शरीर सहित आसमान पर चढ़ जाने पर हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले तीन दिन स्वामी दयानन्द ने अपना पक्ष बयान किया और पादरियों ने उस पर आलोचना की, चौथे दिन पादरियों ने अपना मन्तव्य बयान किया और स्वामी दयानन्द ने उस पर आलोचना की।

पुष्कर की तरह अजमेर में भी स्वामीजी ने वैष्णवों की कंठियां उतरवाई। यहां गो-रक्षा का प्रश्न बहुत जोर से उनके मन में उठा। अजमेर के अंग्रेज अफसरों से मिले और उन्हें प्रेरणा दी कि वे मिथ्या विचारों के दूर करने और गोरक्षा के काम में उनकी सहायता करें। उन अफसरों ने उत्तर दिया कि धार्मिक बातों में सरकार दखल देना नहीं चाहती, और जहां तक गो-रक्षा का सम्बन्ध है, यह प्रश्न सारे देश के लिए है, किसी एक स्थान के लिए नहीं। इसमें यदि कुछ हो सकता है, तो केन्द्रीय सरकार द्वारा हो सकता है।

स्वामी दयानन्द उस समय स्त्रियों को अपने पास नहीं आने देते थे। कोई स्त्री उपदेश के लिए आ जाती; तो उसे यही कहते, 'स्त्री का गुरु उसका पति है उसी से उसे उपदेश लेना चाहिए।' स्त्रियों को उपदेश देने के सम्बन्ध में उनका यह विचार चिरकाल तक बना रहा। स्त्रियों के साधुओं के पास आने-जाने की बुराइयां वह देख चुके थे। इस प्रथा को बन्द करना चाहते थे।

अजमेर से किशनगढ़ आए। वहां के राजा साहब वल्लभ-मत के अनुयायी थे और जनता पर इस मत का बहुत प्रभाव था। आपने इसका खण्डन आरम्भ कर दिया। कुछ लोग उनके डेरे पर पहुंचे और बातचीत करने लगे। कुछ देर बाद दंगा-फ़साद के चिन्ह दिखाई देने लगे। दयानन्द जिस तख्त पर बैठे थे, उस पर खड़े हो गए और कहा, "शास्त्रार्थ तो मैं करता ही हूं, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर शस्त्रार्थ के लिए भी तैयार हूं।" इतने में उनके पक्ष के कुछ अन्य व्यक्ति भी आ गए और शान्ति हो गई।

किशनगढ़ से अचरौल गए। वहां ठाकुर साहब के बाग में ठहरे और उपदेश देते रहे। अक्तूबर, १८६६ ई० के पहले सप्ताह तक वहां रहे। जब चलने लगे तो एक सज्जन रोने लगे। स्वामी ने कहा, "मैंने रोने के लिए उपदेश नहीं दिया। मैंने तो इसलिए उपदेश दिया है कि कुछ हंसो।" यह कथन केवल उस मनुष्य के लिए ही न था। इस कथन में उनके सारे कार्य का एक छोटा-सा चित्र दीखता है। रोने के समान तो हमारी जाति में पहले ही पर्याप्त, बल्कि पर्याप्ति से भी अधिक विद्यमान थे। और रुलाने के लिए किसी महापुरुष के आगमन की आवश्यकता न थी। आवश्यकता तो इस बात की थी कि कोई महापुरुष प्रकट होकर जाति में आत्मविश्वास का संचार करे, जिससे जाति रोना छोड़कर कुछ हंस सके। स्वामी दयानन्द ने यह यत्न किया और उनका यत्न बहुत कुछ सफल हुआ।

जयपुर से आगरा होते हुए स्वामी दयानन्द मथुरा गए। वहां दण्डी विरजानन्दजी से मिले। प्रचलित प्रथानुसार गुरुजी के चरणों में कुछ भेंट रखी। जितने दिन वहां ठहरे, धार्मिक विषयों पर वार्तालाप करते रहे। जो सन्देह थे वे भी निवृत्त किए। दण्डीजी को बताया कि उनसे अलग होने के बाद क्या करते रहे हैं। यह भी कहा कि अब हरिद्वार के कुम्भ पर जाकर वहां से पूरे बल के साथ प्रचार कार्य आरम्भ कर देंगे। यह सुनकर विरजानन्दजी बहुत प्रसन्न हुए। इस भेंट के बाद जब दोनों अलग हुए तो ऐसे अलग हुए कि फिर कभी न मिल सके।

इस भेंट के साथ स्वामी दयानन्द के जीवन का पहला भाग समाप्त होता है। यों तो जब से मनुष्य को होश आता है, वही कुछ बनने और कुछ बनाने लगता है, और यह बनना और बनाना जीवन

पर्यन्त साथ-साथ चलता रहता है। परन्तु जीवन के पहले भाग में बनना मुख्य होता है और बनाना गौण। उस समय स्वामी दयानन्द की आत्मा का विकास हो रहा था। जीवन-यात्रा का जो भाग वह अब तक तय कर चुके थे, उसमें चार मंजिलें स्पष्ट दिखाई देती हैं।

पहली मंजिल उस समय समाप्त हुई जब उन्होंने अपने जन्म के बाद गृह छोड़ा। २२ वर्ष की आयु तक जो प्रभाव घर में और उसके इर्द-गिर्द के हालात उन पर पड़ सकते थे, वे पड़ गए। उन्होंने गृह त्याग किया, क्योंकि वह उस तंग दायरे से निकलकर विशाल वायुमण्डल में विचरना चाहते थे।

यात्रा की दूसरी मंजिल वह भ्रमण था, जिसमें 'शुद्धचैतन्य' और दयानन्द सरस्वती ने बम्बई प्रान्त, उत्तर पूर्व और राजस्थान के एक अच्छे भाग को देखा। इस अरसे में उन्होंने योग सीखा और कुछ पुस्तकें पढ़ीं।

तीसरी मंजिल मथुरा-निवास का समय था। विरजानन्दजी ने उन्हें व्याकरण में निपुण बना दिया, और इसके साथ उनके हृदय पर आर्य-ग्रन्थों और आर्य-सभ्यता के महत्व की न मिटने वाली छाप लगा दी।

चौथी मंजिल, पिछले तीन वर्षों का समय था, जिसमें स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों का धुंधलापन दूर किया और कार्यक्रम पर कुछ तजुर्बे किए।

अब जो कुछ उन्होंने बनना था, वह बहुत कुछ बन चुके थे। अब समय आ गया है कि वे कार्यक्षेत्र में कूद पड़ें, और जो कुछ बना सकते हैं बनाएं। हरिद्वार के कुम्भ से उनके जीवन का दूसरा भाग आरम्भ होता है। उस समय स्वामी दयानन्द की आयु ४३ वर्ष की थी।

पाखण्ड-खंडिनी पताका

स्वामी विरजानन्दजी से दूसरी और अन्तिम भेंट के बाद स्वामी दयानन्द मार्च, १८६७ ई० में हरिद्वार पहुंचे। उन दिनों वहां कुम्भ होने वाला था। मेले के आरम्भ काल से एक मास पहले वह वहां

पहुंच गए। दो संन्यासी और पांच-छः ब्राह्मण उनके साथ थे। सप्त सरोवर के निकट एक स्थान पर आठ-दस छप्पर डलवा लिए, और सारी मण्डली ने वहां डेरा लगा दिया। एक झंडे पर 'पाखण्ड-खण्डिनी लिख दिया। पताका का नाम ही प्रचलित मिथ्या विश्वासों और कुरीतियों के विरुद्ध घोषणा करना था।

आजकल ऐसे मेलों पर जाने वालों में बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो अपने कामकाज से छुट्टी मनाने या कुछ रौनक देखने के लिए वहां पहुंचते हैं। पिछली शताब्दी में आजकल की सुविधाएं विद्यमान न थीं। उस समय कुम्भ पर साधु जाते थे, ब्राह्मण जाते थे और अन्य कुछ गृहस्थ जो ऐसे अवसर पर गंगा-स्नान का बड़ा माहात्म्य मानते थे। स्वामी दयानन्द का डेरा हरिद्वार-ऋषीकेश सड़क पर था। इसलिए दर्शकों की अच्छी संख्या वहां पहुंच जाती थी। प्रश्नोत्तर और शास्त्रार्थ के अतिरिक्त व्याख्यान देना भी आरम्भ कर दिया था। व्याख्यानों में मूर्तिपूजा, भागवत और दूसरे पुराणों का खण्डन करते थे। अवतारों और व्रतों के विरुद्ध कहते थे। कण्ठी, तिलक आदि को फ़जूल बताते थे।

उस समय के प्रसिद्ध विद्वान स्वामी विशुद्धानन्दजी भी कुम्भ पर आए थे। वह यजुर्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र का अर्थ करते थे कि 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसकी टांगों से और शूद्र उसके पैरों से।' स्वामी दयानन्द कहते थे कि 'यह मंत्र अलंकार के रूप में चारों वर्णों का स्थान समाज में निश्चित करता है।' इन अर्थों के कारण ही बहुतेरे लोगों ने कहना शुरू किया है कि दयानन्द नास्तिक है और वेदों का खण्डन करता है।

स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों का परिणाम उस बड़े मेले में क्या हुआ? विद्वत्मण्डल को पता लग गया कि उनमें से एक प्रचलित मार्ग से अलग एक नए मार्ग पर चलता है और उसी को ठीक मार्ग बताता है। साधारण यात्री जैसे और स्थानों पर जाकर बैठ जाते हैं, वैसे ही उनके स्थान पर भी कुछ समय के लिए बैठ जाते हैं। कुछ लोगों के विचारों में परिवर्तन भी हुआ होगा। स्वयं स्वामी दयानन्द के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब वह पहली बार हरिद्वार आए थे तो मेला देखने आए थे। अब की बार वह एक मिशन के साथ थे। उन्होंने अनुभव किया कि जो कार्य उनके सामने है—वह बहुत महान और कठिन है। उसके लिए ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, दृढ़ विश्वास और

संकल्प की भी आवश्यकता है।

मेला समाप्त हुआ और स्वामी ने अपने जीवन में एक परिवर्तन करने का निश्चय किया। उन्होंने निश्चय किया कि जो कुछ भी पास है, उसे त्याग दें और तपस्या को अपने वल से बढ़ाए। स्वामी ने एक थान मलमल और ३५ रुपये, जो पास थे, एक पण्डित को दिए और उससे कहा कि इन्हें दण्डीजी के पास मथुरा पहुंचा दे। शेष पुस्तकें, वस्त्र, वर्तन आदि हरिद्वार में बांट दिए। एक लंगोट पास रखा। स्वामी कैलाश पर्वत ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। स्वामी दयानन्द ने कहा, "निर्भ होने के लिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। और मनुष्य स्वतन्त्र तभी हो सकता है, जब वह अपनी आवश्यकताओं को बहुत ही घटा दे।"

इस निश्चय के साथ यह भी निश्चय किया कि कुछ काल गंगा तट पर व्यतीत करेंगे और केवल संस्कृत ही बोलेंगे।

पहले ऋषिकेश की ओर गए। परन्तु कुछ दिनों के बाद उधर से लौटे और नीचे की ओर गंगा के किनारे भ्रमण करने का निश्चय किया। सहारनपुर, मेरठ, बिजनौर के जिलों में कई स्थानों पर रहे। कर्णवास में एक से अधिक बार गए।

जो ग्राम अथवा नगर गंगा के तट पर बसे हैं, उसमें अकसर छोटे बड़े मेले लगा करते हैं। लोग गंगा स्नान के लिए इकट्ठे होते हैं। एक ऐसे अवसर पर राव कर्णसिंह भी गंगा-स्नान पर आए। यह रंगाचार्य के शिष्य थे। स्वामी ने इस सम्प्रदाय का खण्डन किया रामलीला और उसके साथ के नाच रंग के विरुद्ध भी कहा। यह सब कुछ सुनकर कर्णसिंह बहुत भड़के और स्वामी के पास पहुंचे। थोड़े समय के बाद ही अनुचित बातें कहने लगे। स्वामी सुनकर हंसते रहे। जब उनका क्रोध बहुत बढ़ा, तो उन्होंने अपनी तलवार पर हाथ रखा। स्वामी जी ने कहा, "मैं तो शास्त्रार्थ कर सकता हूं, यदि तुम्हें शस्त्रार्थ करना है, तो किसी राजपूत को ढूंढो।"

एक और बयान के अनुसार कर्णसिंह ने तलवार म्यान से निकाली और इस पर स्वामी दयानन्द ने ऐसे कहा, "राजपूत का धर्म है कि या तो तलवार म्यान से निकाले ही नहीं और अगर निकाले तो फिर उसे वैसे ही म्यान में न डाल दे।" कर्णसिंह ने यह सुना और वहां से चला गया।

अनूपशहर में पण्डित हीरावल्लभ रहते थे। अच्छे पण्डित थे

और उनकी बाबत कहा जाता था कि ऋग्वेद और यजुर्वेद संहिता उन्हें कण्ठस्थ थी। जब स्वामी दयानन्द अनूपशहर गए तो वहां के पण्डितों ने निश्चय किया कि स्वामीजी के साथ मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करेंगे। 'मूर्तिपूजा ही पौराणिक मत का बड़ा किला है, यह बचा रहा, तो सब कुछ बचा रहेगा, यह गिर गया, तो कुछ भी नहीं रहेगा'—ऐसा पण्डितों का विचार था। और ऐसा ही स्वामी दयानन्द का भी विचार था। पण्डित हीरावल्लभ ने प्रण किया कि मूर्तिपूजा को सिद्ध कर सकेंगे, तो इसे करते रहेंगे न कर सकेंगे, तो उसे त्याग देंगे। चार घंटे यह सम्वाद संस्कृत में होता रहा। इसकी समाप्ति पर पण्डित हीरावल्लभ ने खड़े होकर कहा, "जो पक्ष स्वामी दयानन्द का है, वही सत्य है, मूर्तिपूजा वेदोक्त नहीं।" उसी अवसर पर अपनी मूर्तियों को गंगा में बहा दिया। अन्य कई लोगों ने भी ऐसा ही किया।

जो लोग कर्णवास में स्वामी से मिले, उसमें एक छलेसर के ठाकुर मुकुन्दसिंह भी थे। स्वामी जी के उपदेशों को सुनकर वह मूर्तिपूजा के घोर विरोधी हो गए। उनकी जमींदारी में २०-२५ स्थानों पर मन्दिर बने थे और उनमें मूर्तियां स्थापित थीं। कर्णवास से वापस जाने पर उन्होंने इन मन्दिरों की मूर्तियों को नदी में डलवा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इलाके के अन्य ठाकुर और कुछ साधारण लोग उनके विरोधी हो गए। कुछ समय पीछे, ठाकुर साहब स्वामी को छलेसर लिवा ले गए। वहां एक पाठशाला खोली गई। सम्भवत: यह पहली पाठशाला थी जिसके खोलने में स्वामी का हाथ था। दूसरी बार जब स्वामी छलेसर गए, तो इसी पाठशाला में ठहरे और वहीं उपदेश देते रहे। जो लोग दर्शन करने व उपदेश सुनने आते थे, उनकी संख्या सैंकड़ों तक पहुंच जाती थी। वह जो कुछ कहते, संस्कृत में कहते और उनके कथन का भाव कोई पण्डित समझा देता था। छलेसर में जो लोग उनसे मिले, उनमें राजा जयकृष्णदास भी थे। वह उस समय अलीगढ़ में डिप्टी कलक्टर थे। स्वामी के दर्शनों के लिए छलेसर आए और उनसे अलीगढ़ आने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने इसे स्वीकार कर लिया। यह मुलाकात बहुत फलदायक सिद्ध हुई। उत्तरप्रदेश के कई स्थानों में उन्होंने स्वामी के उपदेश का प्रबन्ध किया व कराया। पीछे उन्होंने ही स्वामी से प्रार्थना की कि अपने व्याख्यानों के विषयों को पुस्तक

के रूप में प्रकाशित करें। 'सत्यार्थ प्रकाश' इसी सुझाव
फल था।

सोरों में स्वामी ६ मास के करीव रहे। यहां पण्डितों की अ
वस्ती। उनमें से वहुतेरे स्वामी जी के पास शका-समाधान के लि
आते। कुछ उनके पक्ष के हो गए और उन्होंने अपनी मूर्तियां ग
में बहा दीं और तिलक-कण्ठी आदि भी त्याग दिए।

स्वामी दयानन्द केवल वाणी से ही उपदेश नहीं देते थे, उन
साधारण कार्य भी उनके उपदेश ही होते थे। सालिग्राम
मूर्तियों से वह लवण पीसते और चटनी वनाते थे।

सोरों में पण्डित अंगराम शास्त्री अच्छे विद्वान थे। वह सा
ग्राम की पूजा किया करते थे। स्वामीजी से उनका संस्कृत में सं
हुआ और उन्होंने सबके सामने मूर्ति गंगा में बहा दी। सोरों
स्वामी के एक सहपाठी भी उनसे मिले। स्वामी ने उनसे भी सा
ग्राम की पूजा के विरुद्ध कहा। मथुरा वापस जाकर उन्होंने दण्डी
से इसकी शिकायत की।

स्वामी कैलाश पर्वत, जिनसे स्वामी की भेंट हरिद्वार में
चुकी थी, सोरों के एक मन्दिर के अध्यक्ष थे। वह काशी में रहते थे
इन्हीं दिनों वह सोरों आए। एक दिन वह गंगा के किनारे पूजा क
रहे थे, तव उन्होंने अपने पास एक संन्यासी को खड़े हुए देखा
उन्होंने नाम पूछा। स्वामी दयानन्द ने अपना नाम वताया औ
उनके पास बैठ गए। उन्होंने कैलाश पर्वत जी से कहा, "मु
आपकी सहायता की जरूरत है। रामानुज, वल्लभ, मा
सम्प्रदायों ने बड़ा उपद्रव मचा रखा है, उनके खण्डन में आप हमा
सहायता करें।"

स्वामी कैलाश पर्वत ने कहा, "हम यह सहायता देने के लि
तैयार हैं, परन्तु आप हमारी दो बातें मान लें। एक मूर्तिपूजा
खण्डन न करें और द्वितीय पुराणों का खण्डन न करें। न यह कहें
सारे पुराण व उनमें से कुछ व्यासजी के बनाए हुए नहीं हैं। मू
पूजा से वहुत लाभ है—मन्दिर बने हुए हैं, अज्ञानी लोग व
जाकर पूजा करते हैं और सहस्रों मनुष्यों की अजीविका भी ब
हुई थी।"

स्वामी दयानन्द ने कहा, "मूर्तिपूजा का खण्डन तो मेरा मु
उद्देश्य है और मूर्तिपूजा का स्रोत पुराण हैं। दोनों का खण्डन सा

साथ होना आवश्यक है।" दोनों के दृष्टिकोण में इतना अन्तर था कि दोनों मिलकर काम नहीं कर सकते थे। कुछ समय पीछे कैलाश पर्वत ने संस्कृत में एक पुस्तक लिखी जिसमें यह प्रकट करने का यत्न किया कि पुराणों का प्रामाण्य, मूर्तिपूजा, व्रत, मन्दिर निर्माण— वेद, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण आदि से सिद्ध हो सकते हैं। इस पुस्तक में यह भी लिखा—'जिस पुरुष को दयानन्द के कहने से ऐसी बातों में संशय हो, वह यदि पढ़ा-लिखा हो तो, यह पुस्तक पढ़े, न पढ़ा हो, तो किसी और से सुन ले। उसे संशय न होगा। और जो पुरुष आलस्य के कारण इसे न पढ़ेगा, न सुनेगा, वह नवीन मत वाले लोगों की बातें सुनकर अपने धर्म को छोड़ने पर विवश होगा।'

स्वामी कैलाश पर्वत की तरह और बहुतेरे लोग भी समझते थे कि स्वामी दयानन्द के विचार बाढ़ की तरह बढ़े आ रहे हैं, और जो कुछ सामने आयेगा, उसे बहा ले जाएंगे।

स्वामी ने कायमगंज, जलालाबाद और फर्रूखाबाद में कुछ समय व्यतीत किया। फर्रुखाबाद में तो ६ मास रहे। इस नगर से उन्हें विशेष प्रेम था। सात बार वहां गए, जो शायद किसी अन्य स्थान की बाबत नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी के स्थान पर अच्छा जमघट हो जाता था। बातचीत में कभी गर्मी भी आ जाती थी। नगर का कोतवाल स्वामी के डेरे पर पहुंचा और बाहर से ही चपरासी अन्दर भेजा कि स्वामी को बुला लावे।

स्वामी ने उसका संदेश सुना और चुप रहे। कोतवाल ने एक और चपरासी को अन्दर भेजा कि स्वामी को बुला लावे। स्वामी ने उसको कहा, "हम किसी से मिलने नहीं जाते, जिसे मिलना होता है, आप ही आ जाता है।" चपरासी ने वहीं जाकर कोतवाल से कह दिया। कोतवाल अंदर आया और बोला, "यहां रोज शास्त्रार्थ होता है और झगड़े का भय है।"

स्वामी ने कहा, "हम तो किसी को बुलाने नहीं जाते, न ही आप लोग आते हैं।"

कोतवाल ने कहा, "यह ठीक है, मगर आप झगड़ा न होने दें।"

स्वामी ने कहा, "मेरे पास झगड़ा रोकने की कौन-सी शक्ति है? यह काम सरकार का है। उसे कराना चाहिए।"

कोतवाल यह सुनकर चला गया और दो सिपाहियों को अमन

रखने के लिए स्वामी के डेरे पर बिठा गया।

दो वर्ष के करीब स्वामी दयानन्द ने इस तरह व्यतीत किया। जैसे ऊपर कहा गया है, वह केवल संस्कृत ही बोलते थे। और उन कुल सामान एक लंगोट था। स्नान के लिए किसी एकान्त स्थ पर चले जाते थे, और स्नान के उपरान्त शरीर पर भस्म लगा थे। दिन का बड़ा भाग नदी के किनारे रेत पर गुजारते थे। रा को जहां सोते, कुछ पुआल नीचे डाल लेते थे। रेत बहुत शीत होता, तो कुछ ऊपर भी डाल लेते थे। किसी के गृह उ भोजन करने नहीं जाते थे। कभी-कभी तो मांगना भी प्रसन्द न करते थे। एक अवसर पर तीन दिन भोजन के विना गुजारने प विवश होकर एक किसान से कुछ मांगा। उसने तीन बैंगन दि उन्हें कच्चे ही खाकर शरीर की मांग को थोड़े समय के लिए पू किया।

उनके विचार साफ हो रहे थे। मनुस्मृति के सम्बंध में उनका मत यह था कि उनमें कई बातें वेद विरुद्ध हैं; इसलिए प्रामाणिक नहीं। 'महाभारत' की बावत कहते थे कि इसमें ब मिलावट हुई है। 'तुलसी रामायण' का बहुत विरोध करते थे औ वाल्मीकि रामायण को बहुत ऊंचा स्थान देते थे। सम्भवतः इस कारण यह था कि वाल्मीकि ने रामचन्द्रजी को क्षत्रिय के रूप पेश किया है, जिसने विपत्ति के दिनों को भी एक क्षत्रीय की त काटा और वनों में जो कुछ सहायता मिल सकती थी, उससे राव पर विजय प्राप्त की। तुलसीदास ने रामचन्द्रजी को क्षत्रिय नह बल्कि अवतार के रूप में हमारे सम्मुख रखा है। उनका भाव रा की कीर्ति नहीं, उनकी पूजा है। उन्होंने रामचन्द्रजी के मनुष्यत्व पीछे डाल दिया है। जैसा स्वामी दयानंद मानते थे। स्वामी दयान प्रत्येक रूप में मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। वे चित्र के नहीं चरि के पूजक थे।

प्रचार के अतिरिक्त स्वामी उस समय लोगों को यज्ञोपवीत भ देते थे। उन लोगों में बहुधा ब्राह्मण और राजपूत होते थे। यज्ञोप वीत की कार्रवाई हवन से आरम्भ होती थी। इस तरह हवन की विधि सिखलाना भी उनके काम का अंग बन गया। किसी-किसी क संध्या अर्थसहित सिखलाते थे, परन्तु छपी हुई पुस्तक तो पास को थी नहीं, इसलिए यह काम सुगम काम न था। अकसर गाय‍ी मं

ही सिखला देते थे और कहीं-कहीं हाथ से लिखे हुए गायत्री मंत्र बांट देते थे।

स्वामी दयानन्द ने दो वर्ष छोटे स्थानों में व्यतीत किए। देश की अधिकांश जनता का निवास झोंपड़ी में है। स्वामी दयानन्द ने झोंपड़ियों में जनता की अवस्था को देखा। अब समय आ गया था कि वह बड़े नगरों में जाएं और वहां भी अपना संदेश दें।

१८६८ ई० की वर्षाऋतु के आरम्भ में वह कानपुर पहुंचे और उससे थोड़ी देर बाद काशी गए। कानपुर और काशी में मूर्तिपूजा पर उनके शास्त्रार्थ हुए। इन दो शास्त्रार्थों ने उन्हें बहुत विख्यात कर दिया। इनके बाद वह जहां जाते, उनसे पूर्व ही उनकी कीर्ति वहां पहुंच चुकी होती थी।

स्वामी दयानन्द वर्षाऋतु के आरम्भ में कानपुर आए और तीन मास के करीब वहां रहे। भैरोंनाथ के मन्दिर के निकट विश्रान्त घाट पर डेरा डाला। एक विज्ञापन निकाला, जिसमें उन मिथ्या विचारों का खण्डन किया जिनके विरुद्ध वह हर स्थान पर प्रचार करते थे। इन मिथ्या विचारों को वह गप्प का नाम देते थे। इस विज्ञापन में आठ गप्पों का जिक्र किया:

१. पुराणादि पुस्तकों का मानना
२. मूर्ति की पूजा
३. शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सम्प्रदाय
४. तंत्र-ग्रंथों का वाममार्ग
५. भांग आदि मादक द्रव्यों का सेवन
६. परस्त्रीगमन
७. चोरी करना
८. झूठ, छल-कपट आदि दुर्व्यवहार

जो लोग मिलने आते, उनके साथ संजीदा वार्तालाप करते, और कभी-कभी हंसी-मजाक में मूर्तिपूजा आदि पर हलकी चोटें भी करते। उनके प्रचार से नगर में बहुत हलचल मच गई। एक ही परिवार में कुछ लोग उनके पक्ष के हो जाते और कुछ उनके विरोधी। स्वामी कैलाश पर्वत उन दिनों कानपुर में थे। लोगों ने उनसे शास्त्रार्थ के लिए कहा। उन्होंने उत्तर दिया, "हम शूद्र के स्थान पर नहीं जाते।" क्योंकि स्वामीजी एक कायस्थ के घाट पर ठहरे हुए थे। यह उत्तर सुनकर उन्होंने कहा, "शूद्र के स्थान पर नहीं

आते म्लेच्छ के राज्य में क्यों रहते हैं ?" एक और संन्यासी ब्राह्मानंद कानपुर में आए। उन्होंने यह कहना शुरू किया कि दयानंद नास्तिक और ईसाई है। इसका उपदेश न सुनना चाहिए। उसने २०-२५ ऐसे पुरुषों को इकट्ठा किया और उनका प्रायश्चित भी कराया। गंगा में स्नान कराकर उन्हें कुछ देर जल में खड़ा रखा, उनके यज्ञोपवीत बदले, गायत्री का जाप कराया और अंत में उन्हें कहा कि फिर कभी दयानंद का उपदेश सुनने न जाएं। ब्राह्मानंद ने एक विज्ञापन भी छपवाकर बांटा, जिसमें लिखा था। "जो लोग दयानंद के समीप जाएंगे वे बिरादरी से अलग कर दिय जाएंगे।"

ब्राह्मानंद जनता का ध्यान स्वामी दयानंद से हटाने में सफल न हुआ। हर जगह स्वामी के विचारों की चर्चा होती थी और सारे नगर में यही बातचीत का विशेष विषय था।

पंडित ने स्वामी दयानंद के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। दो बड़े मंदिरों के अध्यक्षों गुरुप्रसाद शुक्ल और प्रयाग नारायण ने शास्त्रार्थ का प्रबंध किया। पंडित हलधर ओझा शास्त्रार्थ करने के लिए नियत हुए और कुछ अन्य पंडित उनके साथ भी गए। मिस्टर थेन उस समय कानपुर के सहायक कलक्टर थे। यह अच्छे संस्कृतज्ञ समझे जाते थे। उन्हें मध्यस्थ चुना गया।

सहस्रों पुरुष शास्त्रार्थ सुनने अथवा देखने के लिए एकत्र हुए। पुलिस का भी पर्याप्त प्रबंध था। शास्त्रार्थ मूर्तिपूजा पर संस्कृत में हुआ। उसकी समाप्ति पर पौराणिक दल ने गंगाजी की जय के नारे लगाए और ओझा जी को गाड़ी में सवार कराकर नगर को चले गए। स्वामी दयानंद के पक्ष के लोग समझते थे कि शास्त्रार्थ में विजय स्वामी की हुई है। शास्त्रार्थ में बहुधा ऐसा ही होता है।

हम नीचे दो लेख देते हैं जिनसे पाठक अनुमान कर सकेंगे कि शास्त्रार्थ में दोनों पक्ष कैसे रहे। एक मिस्टर थेन का पत्र है जो उन्होंने कुछ लोगों को, जिन्होंने उनकी सम्मति मांगी थी, दिया, और दूसरा वह विज्ञापन है जो पंडित ओझा ने हिन्दी, उर्दू और संस्कृत में कई नगर के कई स्थानों पर लगवाया। मिस्टर थेन के पत्र का अनुवाद यह है :

'महाशयगण, शास्त्रार्थ के अवसर पर मैंने दयानन्द सरस्वती फकीर के पक्ष में अपना निर्णय दिया था। और मुझे विश्वास है कि उनकी युक्तियां वेद के अनुकूल थीं। मेरे विचार में उनकी विजय

हुई। यदि आप कहेंगे, तो मैं थोड़े दिनों में बता दूंगा कि मेरे निर्णय के कारण क्या हैं।

आपका आज्ञाकारी
डब्ल्यू थेन

कानपुर ७-८-१८६६

मिस्टर थेन के पत्र से अधिक सशक्त साक्षी पं० हलधर ओझा का विज्ञापन है :

इश्तिहार

जो कि दयानन्द सरस्वती मत के मुताबिक बहुत लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वगैरह अपना कुलधर्म छोड़कर मूर्ति-देवताओं की गंगाजी में प्रवाह कर देते हैं, यह बात बेजा व नामुनासिब है। इसलिए यह इश्तिहार जारी किया जाता है कि जो लोग उनके मत को अख्तियार करें, उनको चाहिए कि मूर्तियों को बराय मेहरबानी एक मंदिर कैलाशजी में जो महाराज गुरुप्रसाद शुक्ल का है, उसमें यह मन्दिर के महाराज प्रयागनारायण तिवारी तक पहुंचा दिया करें। हम उनको उठा लिया करेंगे और उनके बहाने या फेंकने में जो पाप है वह सस्कृत में लिखा है। फकत।

दस्तखत—ओझा हलधर

तीन मास के करीब स्वामी कानपुर में रहे। इसके पश्चात् किसी को बताए बिना वहां से चले गए। अपना पुराना लंगोट, जो साथ लाए थे, वही साथ ले गए। एक और लंगोट, जो कानपुर में किसी ने उन्हें दिया था, वह और मिट्टी का लोटा, जिसे वह बरता करते थे, वहां ही छोड़ गए। हरिद्वार कुम्भ के बाद कानपुर पहला स्थान था जहां स्वामी के विचारों का अच्छा प्रभाव पड़ा। कानपुर में दिग्विजय करके विद्वानों की प्रसिद्ध नगरी काशी की तरफ कदम बढ़ाया।

काशी उत्तर भारत का ही नहीं, सारे भारत का मुख्य धार्मिक केन्द्र माना जाता है। यहां प्रत्येक बाजार और गली-कूचे में मन्दिर हैं। इनकी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए, संस्कृत का पठन-पाठन भी यहां बहुत उत्साह से होता है और होता रहा है। २० वर्ष की आयु में मूलशंकर की इच्छा थी कि काशी जाकर संस्कृत पढ़ें। उनके माता-पिता राजी न हुए और यह इच्छा पूरी न हुई, अब २५-२६ वर्ष और बीत चुकने पर दयानन्द सरस्वती के मन में फिर

इच्छा हुई कि काशी जाएं, परन्तु पहले उद्देश्य के साथ नहीं। अब वह धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन कर चुके थे। जो कुछ उन्होंने इस अध्ययन से प्राप्त किया था, वह उन्हें व्याकुल कर रहा था। काशी पौराणिक विचारों का सबसे बड़ा प्रभावशाली किला था। इस पर आक्रमण करने का उन्होंने निश्चय किया। वह अनुभव करते थे कि जलधारा की तरह विचारधारा भी ऊपर से नीचे की ओर बहती है। 'जहां महापुरुष चलते हैं, वहीं सर्वसाधारण के लिए मार्ग बन जाता है।' यदि वह काशी के पंडितों को अपने विचारों का बना लें, तो उनका कार्य सुगम हो जाएगा।

इस विचार के साथ, वह १८६९ ई० (१९२६ वि०) में काशी पहुंचे। गंगा के पार रामनगर में नदी के किनारे एक मकान में डेरा डाला। जब लोगों को पता लगा कि एक संन्यासी मूर्तिपूजा के विरुद्ध कहते हैं, तो बहुतेरे उन्हें देखने और कुछ उन्हें मिलने के लिए गए। दर्शकों की संख्या बढ़ती गई, और उनकी बाबत चर्चा भी अधिक होने लगी। काशी के राजा साहब ने भी उनकी बाबत सुना। दूसरे लोगों की तरह वह भी मूर्तिपूजा में विश्वास रखते थे, परन्तु संन्यासी के मान के विचार से उन्होंने स्वामी के भोजन का प्रबन्ध कर दिया। एक पुरुष ने उनके सामने स्वामीजी को बुरा-भला कहा। उन्होंने उसे रोक दिया और कहा, "स्वामी दयानन्द सन्यासी हैं और हमारे राज्य में हमारे मेहमान हैं। जो उन्हें बुरा-भला कहता है, वह हमें बुरा-भला कहता है। शास्त्रार्थ हो सकता है, तो करो।" स्वामी से उनकी भेंट नहीं हुई। स्वामी ने इच्छा प्रकट की कि मूर्तिपूजा पर उनसे बातचीत करें। राजा ने कहला भेजा, "काशी में अच्छे-अच्छे पंडित हैं। शास्त्रार्थ वहां ही होना चाहिए।"

एक मास रामनगर में ठहरने के बाद, स्वामी काशी में आए थे और दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्द बाग में ठहरे हुए थे। रामनगर के निवास के दिनों में ही काशी में उनकी बाबत चर्चा होने लगी थी। काशी में आए कुछ दिन ही हुए थे, जबकि दोनों ओर अनुभव होने लगा कि शास्त्रार्थ होना आवश्यक है। पंडित राजाराम शास्त्री एक प्रसिद्ध पण्डित थे। स्वामी ने पण्डित बलदेव को, जो उनके साथ रहते थे, एक प्रश्न देकर पण्डित राजाराम के पास भेजा। उन्होंने प्रश्न देखकर कहा, "दोनों के मध्य में एक छुरी रख दो। यदि हम

इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे, तो स्वामी दयानन्द की नाक का छेदन कर लेंगे।"

पण्डित बलदेव ने वापस आकर यही स्वामी से कह दिया। स्वामी ने कहा, "एक नहीं, दो छुरियां मध्य में रखनी चाहिए, ताकि जिससे न बने. उसका नासिका-छेदन तुरन्त हो जाए।"

पंडित राजाराम तक यह कथन पहुंचाया गया। उन्होंने कहा, "काशी आ गए हैं, चिन्ता क्या है? पता लग जाएगा।"

रात्रि के समय उन्होंने अपने एक विद्यार्थी को भेजा कि देख आवे स्वामी कैसे पण्डित हैं। विद्यार्थी ने स्वामी से व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ बातचीत की। फिर कहा, "आप नसावार सूंघते हैं, यह कहां लिखा है?"

स्वामी ने कहा, "यह व्यसन नहीं, रोग-निवृत्ति के लिए है।"

विद्यार्थी ने वापस जाकर पण्डित राजाराम से कहा, "दयाराम विद्वान बड़ा है, मगर नास्तिक है।"

काशी के मुख्य पंडितों की ओर से चार शास्त्री स्वामी दयानन्द के पास गए और उनसे पूछा कि वह किन-किन ग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं? पहले तो स्वामी ने कहा कि शास्त्रार्थ के समय इसका उत्तर देंगे परन्तु पीछे उनके आग्रह को देखते हुए कहा, "पूर्ण प्रमाण चार वेद ही हैं. इनके अतिरिक्त चार उपवेद, छः अंग, छः उपांग और मनुस्मृति इन सत्रह ग्रन्थों को मानता हूं।" पंडितों ने पूछा, "इसमें क्या प्रमाण है कि ये ग्रन्थ प्रमाणिक हैं?" स्वामी ने उत्तर दिया, "यह तो शास्त्रार्थ का विषय हो सकता है। इसका उत्तर उसी समय देंगे।"

शास्त्रार्थ का दिन नियत किया गया। नवम्बर का मास था। शास्त्रार्थ स्वामी के निवास-स्थान पर हुआ और काशी नरेश इसके प्रधान हुए। पंडितों की एक बड़ी संख्या इसमें सम्मिलित हुई। साधारण लोगों का भी बड़ा जमघट था। उस समय शब्द को ऊंचा करने के यन्त्र यानी माइक्रोफोन और लाउडस्पीकर तो थे नहीं। भीड़ में बहुत-से दूर बैठे लोग शास्त्रार्थ होता देख सकते थे. सुन नहीं सकते थे। काशी में बहुत-से लोगों का निर्वाह दान से होता था। ये लोग समझते थे कि यदि दयानन्द के विचार प्रचलित हो गए, तो वे समाप्त हो जाएंगे। वे सब मिलकर स्वामी को पराजित कराने के लिए इकट्ठे हो गए।

दालान की खिड़की में स्वामी बैठे, उनके सामने वाला स्थान पंडितों के लिए था और तीसरा आसन काशी नरेश के लिए। स्वामी दयानन्द के पक्ष में बोलने वाले अकेले स्वामी स्वयं ही थे। दूसरी ओर से स्वामी विशुद्धानन्द, पंडित बालशास्त्री, पण्डित शिवकुमार, माधवाचार्य, वामनाचार्य और पण्डित ताराचंद भट्टाचार्य—इन छ: पण्डितों ने भाग लिया। आरम्भ में स्वामी ने पण्डितों से पूछा, "आप वेद की पुस्तकें लाए हैं ?"

पंडितों ने उत्तर दिया, "हमें पुस्तकों की क्या आवश्यकता है ? समस्त वेद हमें कंठस्थ हैं।"

स्वामी दयानन्द के पास तो, जैसा हम पहले कह चुके हैं, इस भ्रमण में कोई पुस्तक थी ही नहीं। इस शास्त्रार्थ की सबसे अधिक विचित्र बात यही थी कि शास्त्रार्थ वेद के आधार पर होना था और दोनों पक्षों में किसी के पास वेद न था।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। स्वामी दयानन्द ने कहा, 'मूर्तिपूजा को वेद से सिद्ध करो।"

पण्डित ताराचन्द ने बोलना शुरू किया, परन्तु कोई सन्तोषजनक बात कह न सके।

इसके उपरान्त स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री बोले, मगर वे भी अन्य विषयों की ओर चले गए। उन्होंने पूछा, "प्रतिमा शब्द वेद में आता है या नहीं ? जब यह शब्द वेद में आता है, तो आप इसका खंडन कैसे करते हैं ?"

स्वामी दयानन्द ने कहा, "प्रश्न यह नहीं कि प्रतिमा शब्द वेद में आता है या नहीं। प्रश्न यह है कि प्रतिमा-पूजा वेद के अनुसार है या नहीं ?"

फिर विवाद पुराणों पर होने लगा। पण्डितों ने पूछा, "पुराण शब्द वेद में है या नहीं ?"

स्वामी ने कहा, 'यह शब्द वेद में आता तो है, परन्तु इसका अर्थ पुराना है, भागवत आदि पुस्तकें नहीं।

तब माधवाचार्य ने हस्तलिखित दो पन्ने पेश किए और कहा, "ये वेद के पन्ने हैं। इनमें लिखा है कि यज्ञ समाप्त होने के बाद दसवें दिन पुराणों का पाठ सुनें। इससे सिद्ध होता है कि वेद में पुराणों को प्रमाण्य माना है।"

वेद तो सभा में किसी के पास थे ही नहीं। स्वामी ने वे पन्ने

लिए, उन्हें पढ़ा और कुछ सोच में पड़ गए। वास्तव में वे पन्ने सूत्रों के थे। स्वामी दयानंद उन पन्नों को देख ही रहे थे कि काशी नरेश ने ताली वजा दी। पंडित ने भी वजा दी। शास्त्रार्थ आरम्भ हुए तीन-चार घण्टे हो चुके थे। सात वजे का समय था और नवम्बर का महीना। स्वामी विशुद्धानंद उठ खड़े हुए और कहा, "हमें देर हो रही है हम जाते हैं।"

वाकी लोग भी उठ खड़े हुए। भीड़ में झगड़े की अवस्था पैदा हो गई। कुछ लोगों ने, जो पहले से ही इसके लिए तैयार थे, स्वामी पर पत्थर, ईंट और जूते फेंके। स्वामी शास्त्रार्थ के समय अपने कमरे के वाहर बैठे थे कोतवाल ने उन्हें कमरे के अन्दर पहुंचावा दिया और लाठी चलवाकर भीड़ को तितर-वितर कर दिया।

काशी के नवीन इतिहास में यह शास्त्रार्थ एक वड़ी घटना थी। कुछ लोग समझते थे कि स्वामी दयानंद की जीत हुई है, परन्तु जो उन्हें पराजित कराने के लिए इकट्ठे हुए थे, उन्होंने घोषणा कर दी कि दयानंद हार गए, स्वामी दयानंद यह बताना चाहते थे कि मूर्तिपूजा वेदानुकुल नहीं है। इसमें वह कामयाव हुए पण्डित मंडली चाहती थी कि काशी की जनता उनके साथ ही रहे। सहस्रों ब्राह्मण जो वहां इकट्ठे हुए थे, वे न कुछ सुनने के लिए आए थे, न सुन सकते थे। उनका काम ताली पीटना, शोर मचाना और गाली देना था। यह सब कुछ उन्होंने जी भरकर कर किया। काशी के आम हिन्दुओं को उन्होंने दयानंद के प्रभाव में आने से बचा तो लिया, परन्तु स्वामी दयानंद बुद्धिजीवी वर्ग पर प्रभाव छोड़ गए।

जिस हुल्लड़वाजी में शास्त्रार्थ समाप्त हुआ, उसका प्रभाव विभिन्न लोगों पर भिन्न-भिन्न हुआ। कैलाश पर्वत उस समय काशी में न थे। जव वह वहां आए और शास्त्रार्थ का वृतान्त सुना, तो दुःखी हुए और कहा, "काशी के पंडितों ने वड़ी धूर्तता को। दयानंद का मुकावला विद्या से करना चाहिए था। पंडितों की धूर्तता से उनका अपयश और दयानंद का यश वढ़ेगा।"

ऐसा ही प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ा।

शास्त्रार्थ के उपरान्त, स्वामी दयानन्द डेढ़ मास के लगभग काशी में रहे और उपदेश कार्य करते रहे।

यहां स्वामी दयानंद के मन में विचार आया कि अपने कार्य को जारी रखने के लिए एक पाठशाला स्थापित करें, जिसमें दस विद्यार्थी

लिए जाएं और उन्हें दो वर्ष तक शिक्षा देकर प्रचार-कार्य के लिए तैयार किया जाए। इस पाठशाला का उद्देश्य बालकों को संस्कृत पढ़ाना नहीं, बल्कि संस्कृत पढ़े हुए लोगों को वैदिकधर्मी बनाना था।

वेदभाष्य

काशी से स्वामी दयानंद प्रयाग आए। उनकी कीर्ति उनसे पहले ही वहां पहुंच चुकी थी। प्रयाग में कुम्भ हो रहा था। उनका रहन-सहन पहले की तरह था। केवल संस्कृत में बातचीत करते थे। शरीर पर एक लंगोट होता था। स्नान के उपरान्त शरीर पर भस्म मल लिया करते थे। कोई उनसे भस्म मलने की बाबत पूछता, तो कहते कि शरीर पर भस्म की मोटी तह होने से यदि कोई कीड़ा काटे तो उसका विष शरीर में नहीं पहुंचता। रात्रि को इसी अवस्था में सो जाते थे। एक ईंट या पत्थर सिर के नीचे रख लेते थे और दो पांवों के नीचे।

एक बार एक अंग्रेज ने पूछा, "इतना शीत होता है, आपको नग्न सोने में कष्ट नहीं होता?"

उन्होंने उत्तर दिया, "तुम नंगे चेहरे के साथ इधर-उधर घूमते रहते हो, तुम्हें कष्ट नहीं होता?"

उसने कहा, "चेहरा तो सदा खुला रहता है, इसलिए कष्ट नहीं होता।"

स्वामी ने कहा, "मेरे शरीर का बड़ा भाग भी सदा नंगा रहता है और मुझे कष्ट नहीं होता। यह अभ्यास का फल है।"

प्रयाग में स्वामी वासुकी के मंदिर में ठहरे। दर्शकों की संख्या अच्छी हो जाती थी। शंका-समाधान होता रहता था और इसमें मूर्तिपूजा विशेष विषय होता था। यही विषय उस समय हिन्दुओं को दयानंद के साथियों और दयानंद के विरोधियों में बांटता था। कुछ साधु योग के सम्बंध में भी वार्तालाप करते थे। एक ऐसे साधु ने कहा, "योग तो संसार से परे हो जाना सिखलाता है' आप इन झमेलों में क्यों पड़े हैं?"

स्वामी ने कहा, "योग आलस्य की शिक्षा नहीं देता; योगी को

कर्मयोगी होना चाहिए। योगी दुःख-सुख में समअवस्थाओं में रहता है।"

जो लोग प्रयाग में स्वामी से मिले, उनमें श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर भी थे। स्वामी ने उनसे कहा कि वह कलकत्ता में एक वैदिक पाठशाला स्थापित करें। श्री देवेन्द्रनाथ ने कहा, "जब आप कलकत्ता पधारेंगे, तो विचार कर लेंगे।" एक प्रकार से उन्होंने स्वामी को कलकत्ता आने का निमंत्रण दिया।

प्रयाग से स्वामी मिर्जापुर आए और सेठ रामरतन के बाग में ठहरे। सेठ रामरतन उन्हें प्रयाग में मिले थे और संभवतः उन्हें मिर्जापुर आने के लिए निमन्त्रण दे आए थे। मिर्जापुर के एक और नागरिक, जो उन्हें प्रयाग में मिलते थे, पंडित मोतीराम थे। वहां उनकी बातचीत स्वामी से मूर्तिपूजा पर हुई थी और उन्होंने कहा था कि उस समय तो वह इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं दे सकते, परन्तु मिर्जापुर जाकर खोज करेंगे। जब वह मिर्जापुर में स्वामी से मिले, तो प्रथम प्रश्न स्वामी ने उनसे यही किया कि वाल्मीकी रामायण महाभारत, सूत्रों और वेद में उन्हें कोई प्रमाण मिला या नहीं ? उन्होंने कहा कि कोई प्रमाण नहीं मिला।

मिर्जापुर के अंग्रेज कलक्टर ने एक दिन वहां के रईस, चौधरी गुरुचरणसिंह, को बुलाकर कहा, "सुना है, यहां एक विद्वान साधु आए हुए हैं। आप उनसे मिलिए और हमें उनकी बाबत बताइए।"

चौधरी गुरुचरण स्वामी से मिले। उनके दिल और दिमाग पर स्वामी और उनके विचारों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा।

स्वामी के मन में उस समय पाठशालाओं का विचार जोर से उठा हुआ था। उन्होंने चौधरी चरण को मिर्जापुर में एक पाठशाला स्थापित करने की प्रेरणा दी। उन्होंने स्वीकार कर लिया। स्वामी को पाठशालाएं स्थापित करने का इतना शौक था कि वह स्वयं मथुरा गए और वहां से दो पंडित इस पाठशाला के लिए ले आए। उनमें एक उनका सहपाठी था। स्वयं ही काशी जाकर वहां से विद्यार्थियों के लिए पुस्तक लाए।

१९२७ वि० में यह पाठशाला स्थापित हुई। १५० रुपये मासिक व्यय का भार चौधरी गुरुचरण ने अपने ऊपर लिया। ३०-३५ विद्यार्थी पाठशाला में दाखिल हुए। पाठशाला के नियम निम्नलिखित बनाए गए।

१. कोई विद्यार्थी ६ वर्ष से पहले पाठशाला को छोड़ नहीं सकेगा।

२. सारे विद्यार्थी प्रतिदिन संध्या और हवन करेंगे।

३. जिस दिन कोई विद्यार्थी, सूर्योदय से पूर्व, संध्या नहीं करेगा उस दिन उसे मध्याह्नकाल का भोजन नहीं मिलेगा।

मिर्जापुर में एक पादरी से मिले, जिनका नाम मेथर था। वेद के सम्बन्ध में उनके साथ बातचीत हुई। स्वामी दयानंद इन्द्र, अग्नि आदि को स्वतंत्र देवता नहीं, बल्कि परमात्मा के भिन्न-भिन्न नाम व प्रकृति की शक्तियां समझते थे। पादरी मेथर साधारण लोगों की तरह इन्हें देवता समझते थे। उन्होंने स्वामी से कहा, "यदि आप अन्य भाष्यकारों के भाष्य को सत्य नहीं मानते, तो स्वयं वेद का भाष्य क्यों नहीं करते?"

पादरी साहब के कथनानुसार स्वामी ने कहा, "जब तक तपस्या से बुद्धि निर्मल न हो जाए, वेदार्थ ठीक-ठीक समझा नहीं जा सकता। साधारण बुद्धि-बल से वेदों की टीका नहीं हो सकती।"

जैसे हम देख चुके हैं, वह समय स्वामी के लिए तपस्या-काल था। हरिद्वार कुम्भ पर उन्होंने एक कोपीन के अतिरिक्त सारा सामान वहीं छोड़ दिया था। इस सामान में वे पुस्तकें भी थीं, जो उनके पास थीं। यह सम्भव है कि वेदभाष्य का विचार उनके मन में उठ चुका हो और वह समझते हों कि अभी उसका समय नहीं आया। पादरी मेथर से बातचीत ऐसी घटना थी, जिसका परिणाम बहुत बड़ा निकला। वेदभाष्य और उसकी शैली स्वामी दयानन्द के कार्य को स्थायी नीवों पर रख देने वाले साधनों में प्रमुख साधन साबित हुए हैं। मिर्जापुर निवास के बाद उन्होंने पुस्तकों को भी अपने सामान में सम्मिलित कर लिया। ध्यान, समाधि और उपदेश के साथ अब वह वेदों और शास्त्रों के अध्ययन में पर्याप्त समय व्यतीत करने लगे। स्वामी ने पुनः गंगा के तट पर भ्रमण आरम्भ कर दिया। वह फिर सोरों गए। पहली बार जब वह वहां थे, तो कासगंज के लोगों ने उनसे कासगंज जाने की प्रार्थना की थी। उस समय उन्होंने कहा था कि वह गंगा का तट छोड़कर कहीं न जाएंगे सिवाय उस हालत के कि कहीं पाठशाला स्थापित करनी हो। अब फिर कासगंज के कुछ लोग उनके पास पहुंचे और कहा कि वहां पाठशाला स्थापित करने की तैयारी हो चुकी है।

स्वामी वहां गए, कुछ समय यह ठहरे और पाठशाला स्थापित कर दी। फर्रुखाबाद की पाठशाला में पढ़ने वाले एक विद्यार्थी को उसका अध्यापक नियत कर दिया। दिलसुखराय गिरधारीलाल की दुकान पर धर्मार्थ खातों में २८०० रुपये पड़े थे, वे उन्होंने पाठशाला के लिए दे दिए।

कुछ समय बाद अनूपशहर पहुंचे और लाला बाबू की कोठी में ठहरे। उन दिनों वहां रामलीला जोर-शोर से हो रही थी। स्वामी ने इस लीला का खण्डन किया। वह कहते थे कि अपने बड़ों का स्वांग उतारना उनका अपमान करना है और बालकों को कन्याओं के वस्त्र पहनाकर उन्हें कन्या-रूप में दिखाना भी बुरा है।

जिस कोठी में स्वामी ठहरे हुए थे, उसी में जिलाधीश, जब कभी वह वहां आते, ठहरा करते थे। उन दिनो उन्हें भी वहां आना था। जिन लोगों के हाथ में कोठी का प्रबन्ध था, उन्होंने चाहा कि सारी कोठी जिलाधीश के लिए खाली हो जाए, और अपनी इस इच्छा को स्वामी पर प्रकट किया। स्वामी ने कहा, "हम यहां पहले से ठहरे हुए हैं, जब कलक्टर आ जाएगा, देख लेंगे।"

कलक्टर साहब आए और वह भी वहीं ठहर गए। वह स्वामी से मिले और कुछ बातचीत की। बड़े प्रभावित हुए।

स्वामी के खण्डन से नाराज होकर यहां एक ब्राह्मण ने उन्हें पान में विष दिया। स्वामी को पता लगा तो उन्होंने अपनी आंतों को पानी से धोकर विष का असर रोक दिया।

उस समय वहां एक मुसलमान तहसीलदार था। उसके हृदय में स्वामी के लिए श्रद्धा थी। पान में विष देने का कोई प्रमाण तो था नहीं, उसने किसी और मुकाबले में उस पुरुष को बन्दीगृह में भिजवा दिया। उसे आशा थी कि स्वामी इससे प्रसन्न होंगे। स्वामी पर इसका प्रभाव उलटा हुआ। जब वह स्वामी से मिलने आया तो स्वामी उससे बोले नहीं। उसने अप्रसन्नता का कारण पूछा, तो स्वामी ने कहा, "मैं लोगों को कैद से छुड़ाने आया हूं, कैद कराने नहीं आया। यदि दुष्ट अपने दुष्ट भावों को नहीं छोड़ता, तो हम अपने सद्भावों को क्यों छोड़ दें!" उस ब्राह्मण को छुड़वा दिया। वह स्वामी का भक्त बन गया।

एक दिन एक नाई भोजन बनाकर उनके पास लाया। स्वामी ने उसे स्वीकार किया। पास बैठे हुए लोगों में से एक ने कहा, "यह

रोटी नाई की है, आपके खाने योग्य नहीं।"

स्वामी ने उत्तर दिया, "मुझे तो यह गेहूं की बनी हुई दिखाई देती है।" यह कहकर भोजन कर लिया।

जब स्वामी राजघाट में थे, तो छलेसर के ठाकुर मुकुन्दसिंह ने उनको छलेसर जाने की प्रेरणा दी। वह इससे पूर्व ही स्वामी के उपदेश सुनकर उनके भक्त बन चुके थे और अपनी जमींदारी में जो मन्दिर थे, उनकी मूर्तियों को नदी में बहा चुके थे। स्वामी ने छलेसर जाना स्वीकार कर लिया। नगर के बाहर, दो कोस के फासले पर लोग उनके स्वागत के लिए आए हुए थे। स्वामी ने नदी में स्नान किया और शरीर पर भस्म लगा ली। वे स्वामी के लिए एक पालकी लाए थे। स्वामी ने उसमें बैठना स्वीकार न किया और सबके साथ पैदल चलकर छलेसर पहुंचे। वहां पहुंचने पर भी एक छोटी-सी समस्या सामने आ गई। उनके निवास स्थान पर एक चौकी पड़ी थी और उस पर एक कालीन बिछा था। स्वामी कभी कालीन को देखते, कभी अपने शरीर को। उन्होंने चाहा कि कालीन उठा लिया जाए, मगर लोगों ने न माना।

उपदेश सुनने वालों की संख्या ४००-५०० तक पहुंच जाती थी। एक पाठशाला स्थापित की गई। २० के करीब विद्यार्थी हो गए।

जिस दिन वहां से चलना था, कुछ वर्षा होने लगी। लोगों ने एक दिन और ठहर जाने की प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने पहले निश्चय बदलना पसन्द न किया। जब चलने लगे, तो ठाकुर मुकुन्दसिंह और मुन्नासिंह के नेत्रों में आंसू आ गए। स्वामी ने कहा, "संन्यासी तो चलते-फिरते ही रहते हैं, इससे क्या मोह करना है? यदि हमारे उपदेश आप लोगों के जीवन पर कुछ प्रभाव डाल सके, तो दूर होने पर भी हम निकट ही होंगे।"

रामगढ़ और फर्रुखाबाद होते हुए वह मार्च, १८७२ ई० में फिर काशी गए और अप्रैल में कलकत्ता जाने के लिए चल पड़े।

बंगाल की ओर

स्वामी के समय में भारत की राजधानी कलकत्ता थी। तमाम राजनैतिक गतिविधियां वहीं से होती थीं। अनेक गणमान्य व्यक्ति

वहां रहते थे। स्वामी ने वहां पहुंचने का कार्यक्रम बनाया। काशी से बंगाल जाने के लिए चले। बीच में सात-आठ मास बिहार में रहे बिहार में जिन स्थानों पर ठहरे, उनमें मुगलसराय पहला स्थान था पहले एक घाट पर ठहरे, फिर बाबू वृन्दावन के बाग में चले गए। एक दिन कलकत्ता के पादरी, लालबिहारी डे, उन्हें मिलने आए और धर्म-सम्बन्धी विषयों पर बातचीत करते रहे। ईसाई धर्म की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा कि ईसामसीह ने हमारे मनुष्यों के पाप का भार उठा कर सबको मुक्ति का अधिकारी बना दिया है। स्वामी ने कहा, "ईसामसीह महापुरुष थे, परन्तु यह कहना असत्य है कि दूसरों के पाप का भार उठाकर वह दूसरों को बचा गए हैं। परमात्मा न्यायकारी है। पाप का फल अवश्य मिलता है।" साधारण ईसाइयों का इस समय भी यही विश्वास है कि ईसामसीह ने हमारे स्थान में हमारे पापों का दण्ड भुगत लिया; परन्तु पढ़े लिखे लोगों का विश्वास अब ऐसा नहीं रहा।

दूसरा प्रश्न स्वामी से पादरी लालबिहारी ने खानदान की बाबत किया। उन्होंने पूछा, "आप हमारे हाथ का बना हुआ भोजन खा सकते हैं या नहीं?"

स्वामी ने उत्तर दिया, "आप क्या, "आपसे भी छोटे दर्जे का मनुष्य हो और उसके हृदय में भोजन कराने की पवित्र भाव से रुचि हो, तो वह भोजन खा सकता हूं।"

मुगलसराय से डुमराव गए और महाराजा साहब की कोठी में ठहरे। राजकुमार और कुछ राज्याधिकारी सेवा में होते थे। एक दिन राजकुमार ने पूछा, "क्या आप वैदिक प्रमाण द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं?"

स्वामी ने कहा, "नहीं, मैं तो केवल यह कहता हूं कि वेद में मूर्तिपूजा का विधान नहीं है।"

यहां कुछ पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ भी हुआ। डुमराव से स्वामी आरा गए। वहां दो व्याख्यान दिए जिनमें मूर्तिपूजा, बाल-विवाह और अन्य कुरीतियों का खण्डन किया। वह अपना भाषण संस्कृत में करते थे। थोड़े-थोड़े समय के बाद ठहर जाते और एक सज्जन उनके भाषण का अनुवाद लोगों को सुना देते। आरा के मजिस्ट्रेट से भी भेंट हुई। वह संस्कृत नहीं जानते थे। एक दुभाषिया दोनों को एक-दूसरे का अभिप्राय बता देता था। मजिस्ट्रेट ने पूछा,

"आप संस्कृत में क्यों बातचीत करते हैं ?"

स्वामी ने कहा, "आर्यावर्त में अनेक भाषाएं वोली जाती है; केवल संस्कृत ही सारे देश की सांझी भाषा हो सकती है, क्योंकि इसीसे बहुत-सी नवीन भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इसीलिए हम इस भाषा में बोलते हैं।"

आरा से पटना गए और वहां एक मास रहे। पण्डितों से शास्त्रार्थ होते रहे। पटना कालेज के एक प्रोफेसर, पण्डित रामलाल ने उनके उपदेश सुनकर अपनी मूर्तियां फेंक दीं।

मुंगेर जाते हुए, मार्ग में जमालपुर में गाड़ी वदलनी थी। बीच का समय गुजारने के लिए वे प्लेटफार्म पर घूमने लगे। वहां एक अंग्रेज और उसकी पत्नी भी दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामी केवल एक लंगोट बांधे थे। ऐसे साधु अंग्रेजों और विशेष करके उनकी स्त्रियों को बहुत खटकते थे। उन्होंने स्टेशनमास्टर से इसकी शिकायत की। वह स्वामी के पास आया और उनसे कहा कि गाड़ी आने में अभी देर है, वह आरामकुर्सी पर बैठ जाएं। स्वामी ने उसके अभिप्राय को समझा और कहा, "साहब से जाकर कह दो कि हम उस युग के हैं जिसमें बाबा आदम और बीबी हव्वा अदन के बाग में रहते थे, नंगा रहने में लज्जित नहीं होते थे।"

स्टेशनमास्टर ने यही जाकर साहब से कहा और उसे बताया कि स्वामी कौन हैं। उसने कहा, "क्या प्रसिद्ध विचारक दयानन्द यही हैं ?" स्टेशनमास्टर के उत्तर देने पर वह स्वामी के पास आया और गाड़ी के आने तक उनसे बातचीत करता रहा। गाड़ी के आने पर आदरपूर्वक विदाई दी।

मुंगेर से भागलपुर गए और एक बाग में ठहरे। दर्शन करने और उपदेश सुनने वालों का तांता लग जाता था।

एक दिन बिनौला का राजा उन्हें अपने मकान पर ले गया। पुत्रेष्टि यज्ञ की बाबत बातचीत शुरू कर दी। राजा वृद्ध था; पहली स्त्री जीती थी और उससे एक बालक भी था। इसपर भी उसने एक और विवाह कर लिया था और चाहता था कि उससे भी संतान हो जाए। जब स्वामी को इसका पता लगा तो उन्होंने उसे झाड़ दिया और कहा कि इस अवस्था में विवाह करके उसने अनुचित काम किया है।

महाराजा बर्दवान भी दो बार उन्हें मिलने आए। उनकी इच्छा थी कि स्वामी उनके एक मकान में जाकर रहें, मगर स्वामी

वीकार न किया। कहते हैं महारराजा की रुचि ईसाई मत की थी और महारानी चाहती थीं कि स्वामी के सत्संग से उनके ार बदल जाएं। महाराजा स्वामी के पास गए। स्वामी ने उन्हें झाया। वर्दवान से स्वामी कलकत्ता को रवाना हुए। ६ दिसम्बर ७२ ई० को स्वामी हावड़ा स्टेशन पर पहुंचे। श्री चन्द्रशेखर के स्वागत के लिए आए हुए थे। उन्होंने राजा सुरेन्द्र मोहन के ला में उनके ठहरने का प्रबन्ध किया।

कलकत्ता में अच्छे-अच्छे पण्डित थे। नवीन विद्या का तो वह न्द्र ही था। संस्थाओं में ब्राह्मण समाज का अच्छा प्रभाव था। समय ठाकुर देवेन्द्रनाथ इसके आचार्य थे। उपनिषदों में उनकी त श्रद्धा थी और इनके आधार पर ही उन्होंने 'ब्राह्म धर्म ग्रंथ' ार किया था। बाबा केशवचन्द्र सेन एक और उज्ज्वल व्यक्ति वह ब्राह्म समाज में थे, परन्तु उनपर पश्चिमी सभ्यता और ाई धर्म का रंग बहुत चढ़ा हुआ था और उन्होंने 'नव्य विधान' म से अलग 'ब्राह्म समाज' स्थापित कर लिया था। वह इसके ाचार्य थे और कहते थे कि परमात्मा की ओर से प्रकाश सीधा हें प्राप्त होता है।

जो लोग आरम्भ में स्वामी के पास पहुंचे, उनमें ब्राह्म समाज उपदेशक हेमचन्द्र चक्रवर्ती भी थे। उन्होंने स्वामी से निम्न-खित प्रश्न किए :

१. जाति भेद (वर्ण भेद) है या नहीं?
२. ईश्वर साकार है या निराकार?
३. ईश्वर प्राप्ति का क्या उपाय है?
४. योग का स्वरूप क्या है?
५. सांख्यशास्त्र के कर्ता को लोग नास्तिक कहते हैं। क्या ह ठीक है?
६. यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए या नहीं?

आजकल ये प्रश्न बहुत साधारण समझे जाते हैं, परन्तु ८७२ ई० में ऐसा न था। अन्तिम प्रश्न का विशेष महत्त्व यह था कि बाबा केशवचन्द्र सेन ने यज्ञोपवीत के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ र दिया था। स्वामी ने उत्तर दिया, "जो विद्याहीन हो, उसको ज्ञोपवीत उतार देना चाहिए। जो पढ़ा-लिखा हो, उसे अवश्य ारण करना चाहिए।"

पंडित चक्रवर्ती के मन पर से एक बड़ा बोझ उतर गया।
वावा केशवचन्द्र सेन और ठाकुर देवेन्द्रनाथ दोनों स्वा
मिले। वावा केशवचन्द्र सेन ने अपने निवास-स्थान पर इ
व्याख्यान कराया। कुछ दिनों के पश्चात ठाकुर जी के मका
ब्राह्म समाज का वार्षिकोत्सव मनाया गया। उनके पुत्र स्वाम
पास आए और उन्हें उपदेश देने के लिए ले गए।
स्वामी के व्याख्यान वहुधा स्कूल में और कुछ लोगों के घर
होते थे। व्याख्यान दो-तीन घण्टे होता था और संस्कृ
परन्तु इसकी भाषा इतनी सरल होती थी कि साधारण मनुष्
अभिप्राय समझ लेते थे। अन्तिम व्याख्यान के उपरांत, संस्
कालेज के प्रिंसिपल पंडित महेश चरण न्यायरत्न से कुछ शा
वाद-विवाद हुआ, जिसमें स्वामी की जीत हुई।

स्वामी से वावा केशवचन्द्र सेन की भेंट अक्सर होती
कहते हैं, पहली भेंट के समय, केशवचन्द्र जी ने, अपना नाम
विना, उनसे वातचीत आरम्भ कर दी थी। कुछ समय वाद उ
स्वामी से पूछा, "आप केशवचन्द्र सेन से मिले हैं ?"

स्वामी ने उत्तर दिया, "हां, मिले हैं।"

उन्होंने पूछा कि वह तो कलकत्ता में थे ही नहीं, स्वामी
कैसे मिल सकते थे ? स्वामी ने फिर कहा, "मिले हैं। आप
तो वैठे हैं।" केशव वावू ने कहा, 'आपने यह कैसे जान लिया

स्वामी ने उत्तर दिया, "आपकी वातचीत से ही पता
गया।"

वावा केशवचन्द्र सेन के सम्पर्क ने स्वामी के रहन-सहन
व्याख्यान की रीति में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए।
स्वामी से कहा, "आपको सर्वसाधारण में कार्य करना है।
निकट आने के लिए आवश्यक है कि उनकी भाषा में बोलें।
समझने वालों की संख्या वहुत थोड़ी है। जब कोई दूसरा
सुनने वालों को आपका अभिप्राय समझाता है, तो कई बा
वह स्वयं भी ठीक समझा ही नहीं सकता। स्वामी ने उनके
को स्वीकार कर लिया। हिन्दी में वोलने का निश्चय किया
पीछे इसी भाषा को लिखने के लिए भी अपनाया।

जिन लोगों ने हिन्दी को उसका वर्तमान उच्च स्थान दि
का यत्न किया है, उनमें स्वामी दयानन्द का नाम प्रथम श्रे

वहुत ऊंचा है।

दूसरीं वात जो केशवचन्द्र सेन ने स्वामी से कही, वह उनके इन-सहन के सम्वन्ध में थी। अव मिलने वालों की संख्या वहुत ढ़ चुकी थी और व्याख्यानों में भी वहुत लोग आते थे। स्वामी जी स समय केवल एक लंगोट में पहनते थे। केशवचन्द्र सेन ने उन्हें हा, "आपका वस्त्र धारण करना उपयोगी होगा।" स्वामी ने यह ताव भी स्वीकार कर लिया।

स्वामी चार मास कलकत्ता में रहे। समाचारपत्रों में वहुतेरे ख उनके सम्वन्ध में निकले, कुछ उनके पक्ष में और कुछ विरोध । उन लेखों से पता लगता है कि जो संदेश स्वामीजी कलकत्ता-वासियों को देना चाहते थे, उसमें प्रमुख निम्न प्रकार थे :

१. ईश्वर एक है। उसी की उपासना करनी चाहिए।

२. ब्रह्म और जीव दो अलग पदार्थ हैं, एक नहीं।

३. चारों वेदों की संहिता प्रमाण हैं। उनमें मूर्तिपूजा का धान नहीं।

४. वाल-विवाह अवैदिक है। जिस कन्या का पति मर जाए ह चाहे तो पुनः विवाह कर सकती है।

५. वर्ण का आधार जन्म पर नहीं, कर्म पर है।

६. 'हिन्दू' नाम घृणा प्रकट करने के लिए हमें विदेशियों ने या था। इसे त्याग देना चाहिए। हम सव आर्य हैं।

७. वालकों की तरह, कन्याओं को भी शिक्षा देनी चाहिए। न्याओं की शिक्षा में भाषा, धर्मशास्त्र, शिल्पविद्या, संगीत और द्यक की विशेष आवश्यकता है।

८. सायण का वेदों का भाष्य, वेदार्थ ठीक-ठीक नहीं वताता है।

९. इन्द्र, अग्नि आदि भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम नहीं, एक परमात्मा के भिन्न-भिन्न गुणों को वर्णन करने वाले नाम हैं।

कलकत्ता में एक विशेष घटना हुई, जिसका उल्लेख करना वश्यक है। लार्ड नार्थव्रुक उन दिनों में भारत के वाइसराय थे। लैण्ड के लार्ड विशप ने जनवरी, १८७३ में स्वामी दयानन्द तथा इसराय लार्ड नार्थव्रुक की आपस में भेंट का आयोजन किया। इसराय ने स्वामी दयानन्द को कहा, "पण्डित दयानन्द। मुझे चना मिली है कि आप दूसरे मत-मतान्तरों तथा धर्मोंकी आलोचना रते हैं। इससे उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती है।

इससे जनता में आपके विरुद्ध काफी नाराजगी है। विशेषत: मु
और ईसाई आपके सख्त खिलाफ हैं। क्या आपको इससे
महसूस नहीं होता ? क्या आप सरकार से अपनी सुरक्षा की व्य
चाहते हैं ?"

स्वामी दयानन्द ने उत्तर दिया, "अंग्रेजों के राज्य में मुझे
विचारों का प्रचार करने की पूरी स्वतन्त्रता है। व्यक्तिगत
मुझे कोई खतरा नहीं है।"

स्वामी दयानन्द के इस उत्तर को सुनकर वाइसराय बहु
हुए और उन्होंने उनसे कहा, "यदि आपको अंग्रेजों के रा
विचारों को प्रकट करने की इतनी आजादी है तो क्या आप
के उपकारों का देश में प्रचार करेंगे ? और नित्य प्रातः प्रभु
करते समय अंग्रेजों के अखण्ड साम्राज्य के लिए भी परमा
प्रार्थना किया करेंगे ?"

स्वामी दयानन्द ने निडर होकर कहा, "महोदय ! यह
नहीं हो सकता कि मैं अंग्रेजों के गुणगान गाता रहूं और
उनके अखण्ड साम्राज्य के लिए प्रार्थना करूं। मैं तो नित्य
सायं परमात्मा से यही प्रार्थना करता हूं कि इस आर्यवर्त दे
विदेशियों की दासता से शीघ्र मुक्ति मिले।"

स्वामी के इन दृढ़ विचारों को सुनकर नार्थब्रुक को
बात करने की हिम्मत नहीं हुई। उनके विचारों की सूचना
भेज दी गई। वहां से सूचना मिली कि इस बागी फकीर की
गतिविधियों पर कड़ी नजर रखी जाए।

चैत्र शुक्ला ४ संवत् १९३० को स्वामी दयानन्द ने कल
से प्रस्थान किया। हुगली, भागलपुर, पटना, वर्धमान, छपरा,
मिर्जापुर, प्रयाग, लखनऊ, कानपुर में मूर्तिपूजा, मृतक-श्राद्ध
कुप्रथाओं का विरोध करके वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए
बाद, छलसेर होते हुए अलीगढ़ पहुंचे। यहां आप डिप्टी क
राजा जयकृष्णदासजी की कोठी पर पहुंचे। और एक मा
राजा साहब का शहर में काफी प्रभाव था। स्वामी के
व्याख्यान होते थे। जनता की रुचि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती
स्वामी की सच्चाई और व्यक्तित्व ने जनता पर जादू का
किया। राजा साहब ने स्वामी से प्रार्थना की कि आप अपने वि
को लेख-बद्ध क्यों नहीं कर लेते ? स्वामी दयानंद ने इस प्र

को स्वीकार किया। लिखना शुरू कर दिया। ग्रंथ की पूर्णता पर उसका नाम रखा गया 'सत्यार्थप्रकाश' जिसके प्रकाश से अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने आगे चलकर प्रकाश प्राप्त किया।

यहां पर आपकी भेंट अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सय्यद अहमद खां से हुई। वे आपके विचारों से बड़े प्रभावित हुए। अन्त तक स्वामी दयानंद के प्रशंसक रहे अलीगढ़ से स्वामी मथुरा, वृन्दावन गए। उन दिनों वहां रंग जी के मंदिर में 'ब्रह्मोत्सव' प्रसिद्ध रथ का मेला लगा हुआ था। रंगाचार्य इस मंदिर के मुख्य मठाधीश थे यहां की पोपलीलाएं देखकर स्वामीजी ने रंगाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। बीमारी का बहाना करके रंगाचार्य ने शास्त्रार्थ से मुंह मोड़ लिया। स्वामी दयानन्द के श्री क्षेत्रनाथ घोष के बंगले पर धाराप्रवाह व्याख्यान चलते रहे। मुख्य विषय—मूर्तिपूजा, तीर्थ, मृतक-श्राद्ध रहते थे। वृन्दावन से मथुरा होकर काशी पहुंचे। सर सय्यद अहमद खां उन दिनों में वहां डिप्टी कलेक्टर थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों की व्यस्था कराई। यहां १८७४ में आर्यसभा स्थापित करके केदारघाट पर पाठशाला खोली गई। 'आर्य प्रकाश' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया गया। बनारस से स्वामी जी प्रयाग गए।

प्रयाग में अनेक पंडित, मौलवियों और पादरियों से स्वामी की सैद्धांन्तिक चर्चा हुई। मूर्तिपूजा का विरोध करने पर मुसलमान बहुत खुश हुए। जब इस बात का स्वामी को पता चला तब उन्होंने कहा, मुसलमान भी तो कब्रों की पूजा करते है, क्या वह जड़-पूजा नहीं है? यह सुनकर मुसलमानों की बोलती बन्द हो गई। प्रयाग में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में निम्न विषयों पर विशेष बल दिया:

१. गंगा के नहाने से मुक्ति नहीं मिलेगी। कर्म अच्छे करने चाहिएं।

२. स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए।

३. स्त्रियों में प्रचलित पर्दा-प्रथा समाप्त करनी चाहिए।

४. मृतक-श्राद्ध न करके जीवित माता पिता तथा बुजुर्गों की सेवा करनी चाहिए।

५. मूर्तिपूजा ईश्वर-पूजा नहीं है। महापुरुषों के चित्र की नहीं चरित्र की पूजा करनी चाहिए।

स्वामी दयानन्द अक्तूबर, १८७४ तक उत्तर भारत में प्रचा करके बम्बई जाने के लिए तैयार हुए। उन दिनों बम्बई में वैष्ण मत में प्रचलित कुरीतियों की बड़ी चर्चा थी। वहां के सुधारवा व्यक्तियों ने स्वामी दयानन्द को बम्बई आने का निमन्त्रण दिया २६ अक्तूबर को स्वामी दयानन्द बम्बई पहुंच गए।

आर्यसमाज की स्थापना

भारत की महानगरी बम्बई में पंचरंगी प्रजा रही है, ह प्रान्त और हर देश क व्यक्ति रहते हैं। सागर-तट पर स्थित इ रमणीय नगरी में ६ फुट ८ इंच लम्बे विशालकाय तेजपुंज स्वा दयानन्द के पहुंचते ही हलचल मच गई। धोबी तालाब पर स्थि फरामजी कावसजी हॉल में चल रहे धारा प्रवाह व्याख्यानों से सा शहर में स्वामी दयानन्द का डंका बजने लगा। धर्म के नाम प पाखण्ड और दुकानदारी चलाने वालों की स्वामी दयानंद ने अप तर्कों, युक्तियों और प्रमाणों से धज्जियां उड़ानी शुरू कीं। दकिया नसी साम्प्रदायिक लोग विशेषकर गोकुलिए गोसाईं सम्प्रदाय लोग काफी नारज हु। उन्होंने स्वामी के सेवक बलदेवसिंह को लालच देकर खान में विष दे देने की योजना बनाई। गोसाइयों से मिलकर जब बलदेवसिंह वापस लौटा तब स्वामी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर उससे कहा, "गोसाइयों से मिल आए? उन्होंने तुम्हें मुझे विष देने के लिए कितने रुपए देना स्वीकार किया है?"

यह सुनकर बलदेवसिंह घबरा गया। चरणों में गिरकर माफी मांगने लगा। स्वामी ने सेवक से कहा, "लोगों ने मुझे सत्य सना-तन वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए अनेक बार विष दिया, परन्तु यौगिक क्रियाएं करके मैं विष को निकाल देता हूं। परन्तु तुम्हें तुच्छ लालच में आकर ऐसा अमानवीय कार्य करने की हिम्मत कैसे हुई?"

सेवक बलदेवसिंह ने फिर माफी मांगी। दया के सागर दया-नन्द ने उसे भविष्य में इस प्रकार का कदम न उठाने की सूचना देकर माफ कर दिया। स्वामी दयानन्द ने बम्बई में अपने व्याख्यानों

में निम्न बातों पर जोर दिया :

१. मूर्तिपूजा से हानियां ।

२. मृतक-श्राद्ध निरर्थक हैं।

३. सागर पार जाकर व्यापार आदि कार्य करना पाप नहीं है।

४. विधवा-विवाह का समर्थन ।

५. गो-रक्षा से देश की भलाई ।

६. वेद ईश्वरीय ज्ञान है ।

स्वामी दयानन्द के विचारों से बम्बई के अनेक शिक्षित गण्य-मान्य व्यक्ति प्रभावित हुए । उन्होंने मिलकर स्वामी से प्रार्थना की कि एक ऐसे संगठन की स्थापना करें जिससे इन विचारों को स्थायी रूप से चलाया जा सके स्वामी दयानंद अपने भक्तों के सुन्दर विचार से सहमत तो थे, परन्तु उन्हें भय था कि आगे चलकर वह संगठन व्यक्तिवाद पर आधारित एक मजहब न बन जाए। उन्होंने अपने भक्तों से कहा, "यदि संस्था से पुरुषार्थ द्वारा परोपकार कर सको। तब तो मेरा कोई विरोध नहीं है। यदि यथोचित व्यवस्था न कर सकोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय शुरू हो जाएगा। इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतंत्र मत नहीं है और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूं। यदि मेरी कोई बात आगे चलकर गलत पाई जाए तो युक्तिपूर्वक परीक्षा करके उसे भी सुधार लेना। नहीं तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा।"

संस्था का नाम क्या रखा जाए, यह कार्य स्वामी के परामर्श से निश्चित करना था। वेद, जिसे मानव-मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर द्वारा प्रदान किया गया ज्ञान का भण्डार माना जाता है, उसमें 'आर्य' और 'दस्यु' का ही उल्लेख है। आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, ईश्वर-भक्त आस्तिक पुरुष, तथा दस्यु अर्थात् राक्षसवृत्ति रखने वाला नास्तिक व्यक्ति, जिसका ईश्वर में विश्वास न हो। स्वामी दयानन्द संसार के लोगों को श्रेष्ठ पुरुषों के रूप में देखना चाहते थे। उन्होंने खूब सोच-विचार करके स्थापित की जाने वाली संस्था का नाम 'आर्यसमाज' रखने को कहा। निम्न दस सार्वभौम नियमों के आधार पर आर्यसमाज की आधारशिला रखी गई :

१. सब सत्य विद्याओं और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्याय-कारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करने योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्य को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

१० व्यक्ति उसी समय समाज के सदस्य बन गए, जिनमें महान क्रांतिकारी नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा भी एक थे जो उन दिनों बम्बई में विद्याध्ययन करते थे। प्रगतिशील वेद की विचाधारा के आधार पर बनाई गई इस संस्था की सूचना दैनिक पत्रों द्वारा जब सर्वसाधारण को मिली तब पौराणिक धर्मान्ध धर्माचारियों में खल-बली मच गई। उन्होंने ऐसा वातावरण पैदा किया कि जो व्यक्ति आर्यसमाज के सदस्य बन गए थे उन्हें संकीर्ण विचार रखने वाले जाति-बिरादरी के तथाकथित नेताओं ने जाति-बहिष्कृत करवा दिया। इससे आर्यसमाज के बने सदस्यों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

परन्तु लगभग सब सदस्य अडिग रहे। उन्होंने संवत् १९३१ को चैत्र शुक्ल पक्ष प्रतिपदा बुधवार अर्थात् ७ अप्रैल, सन् १८७५ को सायंकाल ४ बजे वर्तमान प्रार्थना समाज के पास श्री माणिकजी की बागवाड़ी में बैठक बुलाकर विधिवत् पदाधिकारियों का चुनाव

किया, जिसमें श्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी वकील प्रधान तथा श्री पानाचन्द आनन्दजी मन्त्री बनाए गए। उस समय स्वामी दयानन्द ने 'आर्यसमाज की आवश्यकता' पर महत्त्वपूर्ण प्रवचन दिया। आर्यसमाज के आरम्भिक साप्ताहिक सत्संग गिरगांव रोड पर स्थित जगन्नाथ शंकर के विशाल भवन में होते थे। तत्पश्चात् सदस्यों ने १२ हजार रुपये एकत्रित करके १८ फरवरी, १८८२ ई० को संस्था का निजी स्थान काकड़वाड़ी में प्राप्त कर लिया जहां इस समय विशाल आर्यसमाज मन्दिर बना हुआ है।

प्रचार-प्रवास

बम्बई में स्वामी दयानन्द ने जो प्रभावशाली व्याख्यान दिए उनका उल्लेख प्रायः गुजराती भाषा के पत्रों में आता था। इसका परिणाम यह निकला कि गुजरात के विभिन्न नगरों से स्वामी को आने के निमन्त्रण मिलने लगे। सर्वप्रथम वे सूरत गए। वहां उन्होंने चार व्याख्यान दिए। व्याख्यानों में नारायण स्वामी मत, रामानुज सम्प्रदाय तथा ब्रह्मसमाज के धर्म के नाम पर चल रहे अधार्मिक कार्यों की आलोचना की। अन्तिम व्याख्यान जहां होना था वहां का स्थान मालिक ने संकीर्ण सम्प्रदायिक लोगों के डर के मारे नहीं खोला। लोग काफी इकट्ठे हो गए थे। स्वामी ने वहीं खुले मैदान में कड़कती धूप में व्याख्यान दिया। विरोधियों से यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने शरारती लोगों को रुपये देकर सभा में ईंट-पत्थर फिकवाए। पुलिस को सूचाना मिली। तुरन्त सुरक्षा की व्यवस्था की गई।

सूरत से स्वामी दयानन्द भड़ौच गए। वहां तीन व्याख्यान दिए, जिनमें विशेषकर ईसाइयों द्वारा आर्य संतति को लोभ-लालच देकर ईसाई बनाए जाने का तथा बाइबल की अवास्तविक बातों का भंडाफोड़ किया।

भड़ौच से स्वामी दयानन्द अहमदाबाद गए यहां उन्होंने वर्ण-भेद और छुआछूत के सम्बन्ध में जनता को वास्तविकता का ज्ञान देते हुए कहा, 'ब्राह्मण घर में पैदा होकर यदि कोई व्यक्ति भ्रष्ट आचरण करता है तो उसे ब्राह्मण नहीं, शूद्र समझकर उससे सम्बन्ध

नहीं रखना चाहिए। और जो व्यक्ति नीच समझी जाने वाली जाति में भी जन्म लेकर विद्वान है, उसके कार्य पवित्र हैं तो उसे ब्राह्मण समझकर उसी अनुसार वर्ताव तथा आदर करना चाहिए। गुण, कर्म, स्वभावानुसार नीच और ऊंच का निर्णय करना चाहिए।'

अहमदावाद से स्वामी दयानन्द ३१ दिसम्बर को राजकोट पहुंचे। यहां आपने ईश्वर, वेद, धर्म, पुनर्जन्म, विद्या-अविद्या, मुक्ति और बंधन, कर्तव्य तथा प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास पर सुन्दर व्याख्यान दिए। यहां के प्रसिद्ध राजकुमार कालेज में भी आपका व्याख्यान रखा गया। मौरवी के महाराज कुमार सर वाघवी ठाकोर उस समय वहीं पढ़ते थे। हर राजपरिवार के बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वह स्वामी के व्याख्यानों से बड़े प्रभावित हुए थे। वहां मिलने गए, तव स्वामी ने उन्हें वताया कि मैं भी मौरवी राज्य का वासी हूं। यह सुनकर वाघजी ठाकोर को अधिक आकर्षण पैदा हुआ। उनका स्नेह-सम्वन्ध गहरा होता गया। सन् ५७ की क्रान्ति में जव असफलता मिली तव नाना साहव को स्वामी दयानन्द ने साधु के वेश में मौरवी के महाराजा सर वाघजी के पास भेज दिया था जहां उनकी मृत्यु हुई।

राजकोट में भी स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की, जिसके प्रथम ३० सदस्य वने। राजकोट से अहमदावाद गए। यहां पर भी आर्यसमाज की स्थापना करके स्वामी दयानन्द अहमदावाद, भड़ौच, सूरत में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए व वलसार में कुरीतियों के विरुद्ध सिंह-गर्जना करते हुए ५ मार्च, सन् १८७६ को वम्वई पहुंचे। अवकी वार श्री गोविन्द विष्णु के प्राइवेट अंग्रेजी स्कूल में वेदों के सार्वभौम सर्वग्राही मानववादी पवित्र सिद्धान्त का प्रभावशाली वाणी में प्रतिपादन करते रहे। इन्हीं दिनों आपने 'संस्कार विधि' तथा आर्याभिविनय' आदि ग्रंथ तैयार किए। संस्कृत के प्रसिद्ध विदेशी विद्वान प्रोफेसर मोनियर विलियम्स उन दिनों वम्वई में आए हुए थे। उनको जव यह पता लगा कि वेदों के प्रकांड पण्डित तथा संस्कृत के महान समर्थक स्वामी दयानन्द के वम्वई में धारा-प्रवाह प्रवचन हो रहे हैं, तव वे उनके प्रवचन सुनने आए। सुमधुर संस्कृत सुनकर मोनियर विलियम्स स्वामी दयानन्द से वहुत प्रभावित हुए। व्याख्यान-समाप्ति पर आपने संस्कृत में स्वमी से वातचीत की।

स्वामी एक विदेशी के मुख से संस्कृत सुन कर बहुत प्रसन्न हुए यह मुलाकात आगे चलकर काफी गहरी बन गई। प्रसिद्ध क्रान्ति-कारी नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा को स्वामी दयानन्द ने मोनियर विलियम्स के द्वारा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्राध्यापक रखवाया था। बम्बई में कुछ समय प्रचार करके स्वामी दयानन्द प्रसिद्ध देशभक्त नेता महादेव गोविन्द रानाडे के निमन्त्रित करने पर संस्कृत विद्वानों की नगरी सनातनियों के गढ़ पूना में जून, १८७५ के अन्त में पहुंच गए। बुधवार चौक में भिड़े के वाड़े में प्रतिदिन व्याख्यान रखे गए। दो-ढ़ाई घंटे व्याख्यान चलता। जनता की संख्या नित्य-प्रति बढ़ती जा रही थी। यहां प्रभावशाली १५ व्याख्यान हुए, जो आगे चलकर 'उपदेश मंजरी' नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों ने पौराणिकों में खलबली मचा दी। अन्तिम विदाई के दिन उनका सम्मानपूर्वक जलूस निकालने का निश्चय श्री महादेव गोविंद रानाडे के निवास-स्थान पर शहर के बुद्धिजीवी लोगों ने किया। हाथी पर स्वामी का जलूस निकाला गया। कुछ संकीर्ण विचार रखने वाले शरारती लोगों ने जलूस को खराब करने की कोशिश की, परन्तु उन्हें मुंहकी खानी पड़ी। उस दिन वर्षा होते हुए भी जलूस में लोगों की संख्या अधिक थी।

पूना से स्वामी दयानन्द सितारा गए। वहां एक मास प्रचार करके बम्बई होते हुए बड़ौदा पहुंचे। बड़ौदा के दीवान सर टी० माधवराव ने स्वामी के रहने आदि की तमाम व्यवस्था करवाई। पहला व्याख्यान 'देश-उन्नति पर हुआ, दूसरा 'वेदाधिकार' पर सस्वर वेदमन्त्रों का सस्वर उच्चारण कर जब दयानन्द बोलने लगे, तब पौराणिक विचारधारा रखने वाले पण्डितों ने अपने कानों में उंगलियां डाल लीं। वे शोर मचाने लगे। कारण पूछने पर पता लगा कि इन संकीर्ण तथाकथित ब्राह्मणों को यह आपत्ति है कि सभा में नीच, शूद्र, विधर्मी व्यक्ति भी बैठे हैं और उनके सामने वेदमंत्रों का उच्चारण करना पाप है।

स्वामी दयानन्द ने इस हीन भावना की तीव्र आलोचना करते हुए कहा, "वेद का ज्ञान मानव-मात्र के लिए है। वेद किसी की बपौती नहीं है। जैसे सूर्य का प्रकाश तथा वायु मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए है वैसे ही वेदवाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य-मात्र के

कल्याण के लिए है।"

कुछ पुरानी विचारधारा रखने वाले ब्राह्मणों के अलावा बाकी सारी जनता पर स्वामी के विचारों ने प्रभाव डाला।

तीसरा व्याख्यान आपने एक मन्दिर में दिया। विषय था—'राजधर्म'। क्योंकि राजपरिवार के लोग तथा अधिकारी लोग अच्छी संख्या में भाषण सुनने आते थे। आपने इस भाषण में कहा, "दूसरों पर शासन वही कर सकता है जो अपने-आप पर शासन कर सकता हो।"

लगभग डेढ़ वर्ष बम्बई प्रान्त में प्रचार करके स्वामी दयानन्द उत्तर भारत की ओर चल पड़े। फर्रुखाबाद, काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहांपुर, बरेली, मुरादाबाद, कर्णवास, अलीगढ़ आदि स्थानों पर प्रवचनों, शंका-समाधानों, शास्त्रार्थों द्वारा दिग्विजय करके स्वामी दयानन्द देहली दरबार में पहुंच गए।

देहली-दरबार

स्वामी दयानन्द दिसम्बर, सन् १८७६ के अन्त में देहली पहुंचे, क्योंकि १ जनवरी, १८७७ को महारानी विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित करने के लिए विशेष समारोह का आयोजन किया गया था। लार्ड लिटन उस समय भारत का गवर्नर था। उसने देश-भर के राजा-महाराजाओं तथा धार्मिक एवं विद्वान नेताओं को उस समारोह में आने का निमन्त्रण दिया। देहली को दुल्हन जैसा सजाया गया। राजे-महाजे सज-धज के अपने काबिले के साथ देहली पहुंचने लगे। इनमें कुछ स्वामी दयानन्द के परम श्रद्धालु भी थे। स्वामी दयानन्द ने देहली दरबार में आए हुए तमाम विशेष व्यक्तियों को परिपत्र भेजा। इन्दौर के महाराजा होलकर ने प्रयास किया कि सब राजा एक दिन मिलकर स्वामी दयानन्द की अमृत वाणी से लाभ उठावें, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि आगन्तुक तमाम महानुभाव समारोह के उपलक्ष्य में रखे गए विभिन्न कार्यक्रमों में व्यस्त रहते थे तथा उनकी इस प्रकार के धार्मिक तथा राष्ट्र हित के लिए रखे गए कार्यक्रमों में भाग लेने में विशेष रुचि नहीं थी। ऐशो-आराम की जिन्दगी ही उन्हें पसन्द थी। देश की गुलामी तथा

दुर्दशा के अनेक कारणों में से ये भी मुख्य कारण थे। राष्ट्रहित में अपना हित समझने वाले लोगों की कमी थी। सब अपने हित को ही सोचते थे।

स्वामी दयानन्द ने देहली दरबार को इसलिए महत्त्वपूर्ण समझ कर वहां अपना कार्यक्रम बनाया क्योंकि वे समझते थे कि देश के राजा-महाराजा तथा नेताओं को यदि एक मंच पर खड़ा करके मानव मात्र के भले की कोई ठोस योजना बनाई जाए तो सर्व-साधारण पर उसका शीघ्र प्रभाव पड़ेगा। राजाओं ने जब विशेष रुचि न ली तब उन्होंने अपने प्रेमी महानुभावों सर सय्यद अहमद खां, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, श्री नवीनचन्द्र राय, मुंशी इन्द्र-मणि, श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि आदि को निमन्त्रण देकर अपने पास बुलाया। ये सब नेता अंग्रेज सरकार के निमन्त्रण पर देहली आए हुए थे। बैठक में सबने अपने-अपने विचार व्यक्त किए।

स्वामी दयानन्द ने उस सभा में अपने विचार रखते हुए कहा, "जब तक विश्व की मानव-जाति का एक धर्म, एक धर्मग्रंथ, एक पूजा की विधि, एक भाषा, एक राष्ट्र की भावना नहीं होगी, तब तक मनुष्य-मात्र का कल्याण नहीं हो सकेगा। वेद के आधार पर विश्व के कल्याण की योजना बनाई जा सकती है, क्योंकि वेद में ईश्वर द्वारा दिया गया मानव मात्र की भलाई का सन्देश है। उसमें प्रान्तवाद, जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद जैसी संकीर्ण भावना का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं है।"

साम्प्रदायिक विचारधारा रखने वालों को यह बात खटकी। उन्होंने स्वामी दयानन्द की भावनाओं की तो प्रशंसा की, परन्तु मिलकर इस योजना को क्रियात्मक रूप देने में असमर्थता प्रकट की। एक मुसलमान वेद को ईश्वरीय ज्ञान कैसे स्वीकार करता? बैठक सफल नहीं हुई।

पंजाब का प्रवास

देहली दरबार की समाप्ति पर स्वामी दयानन्द मेरठ होकर सहारनपुर गए। वहां उन्हें पता लगा कि शाहजहांपुर के पास चांद-पुर में १८ से २० मार्च, १८७७ को बड़ा मेला लगता है। स्वामी

पहुंच गए।' 'आनन्दस्वरूप मेला' के नाम से प्रसिद्ध इस मेले में स्वामी दयानन्द का ईसाई पादरियों तथा मुसलमान मौलवियों से निम्न विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ।

१. परमात्मा ने सृष्टि को किस वस्तु से कब और किस उद्देश्य से बनाया ?

२. ईश्वर सर्वव्यापक है या नहीं ?

३. ईश्वर एक साथ दयालु और न्यायकारी किस तरह हो सकता है ?

४. वेद, बाइबल और कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने में क्या प्रमाण हैं ? आदि।

चांदपुर के इस ऐतिहासिक मेले में स्वामी दयानन्द ने इन तमाम विषयों पर अपनी तार्किक बुद्धि का ऐसा परिचय दिया कि पादरियों तथा मौलवियों की त्योरियां चढ़ गईं। शास्त्रार्थ में उनकी युक्तियों, प्रमाणों तथा तर्क के तीरों के सामने साम्प्रदायिक लोगों की दाल न गली। सब मैदान छोड़कर भाग गए। स्वामी दयानन्द की जय-जय कार हुई। इसी मेले में हुए शास्त्रार्थ को चर्चा की पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया, जिसे 'मेला चांदपुर शास्त्रार्थ' कहते हैं।

चांदपुर के मेले में सफलता प्राप्त करके स्वामी दयानन्द पंजाब की ओर गए, क्योंकि देहली दरबार के समय आपको पंजाब आने के लिए कई निमन्त्रण मिल चुके थे। सर्वप्रथम आप लुधियाना गए। वहां लाला जहमल खजांची के यहां पर नित्य उपदेश करते थे। तीन सप्ताह तक तेजस्वी एवं तर्कपूर्ण भाषण हुए। हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयों में आपके भाषणों ने खलबली मचा दी।

१६ अप्रैल, १८७७ ई० को स्वामी दयानन्द पंजाब की राजधानी लाहौर पहुंचे। दीवान रतनचंद के बाग में निवास की व्यवस्था की गई। २५ अप्रैल से बाडली साहब में व्याख्यान शुरू किए। वेद पुराण, मूर्तिपूजा, देवी-देवता-वेदार्थ वेदाधिकार, वर्ण-भद्र आदि विषयों पर वेद-प्रतिपादित विचार ओजस्वी भाषा में रखे। इन व्याख्यानों से शहर में हलचल मच गई। पौराणिक सनातनी लोगों ने दीवान रतनचंद पर इतना प्रभाव डाला कि उन्हें अपने स्थान पर व्याख्यान बंद करने पड़े। व्याख्यानों के लिए नए स्थान की खोज की गई। डाक्टर रहीम खां की कोठी मिल गई। वहीं स्वामी

भाषणों की व्यवस्था की गई।

मुसलमान होते हुए भी डाक्टर रहीम खां ने बड़ी उदारता से स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों की व्यवस्था अपने यहां कराई। लोगों पर स्वामी के विचारों का इतना प्रभाव पड़ा कि २४ जून, १८७७ ई० को डाक्टर रहीम खां की कोठी पर आर्य समाज की स्थापना की गई। २२० व्यक्ति आर्यसमाज के सदस्य उसी समय बन गए।

लाहौर में आर्यसमाज के स्थापित होने पर कार्य की प्रगति को देखकर स्वामी दयानन्द ने आगे चलकर आर्यसमाजों की स्थापना के कार्य पर विशेष ध्यान दिया, जिससे वेद प्रतिपादित विचारों को स्थायी रूप से प्रचार-प्रसार के कार्य में मदद मिल सके।

लाहौर से स्वामी दयानन्द ५ जुलाई को अमृतसर गए। सरदार दयालसिंह ने उनके रहने आदि की व्यवस्था के लिए मियां, मुहम्मद की कोठी निश्चित की। सवा मास प्रचार-कार्य के पश्चात अमृतसर में भी आर्यसमाज की स्थापना की गई।

उसके पश्चात् स्वामी दयानन्द गुरुदासपुर गए। प्रचार-कार्य के पश्चात् लोगों ने प्रभावित होकर वहां आर्यसमाज की स्थापना की।

गुरुदासपुर से अमृतसर होकर स्वामी जालन्धर गए। वहां एक मुसलमान मौलवी से पुनर्जन्म पर शास्त्रार्थ हुआ। मौलवी साहब निरुत्तर होकर वहां से चले गए। लाला मथुरादास योग से वहां भी आर्यसमाज स्थापित किया गया।

फिरोजपुर से स्वामी दयानन्द रावलपिण्डी गए। वहां आपके रहने आदि की व्यवस्था एक पारसी सज्जन ने की थी। तर्कपूर्ण तीखी भाषा में आलोचना करने के कारण लोगों ने उस पारसी पर दबाव डाला कि दयानन्द को अपने स्थान से चले जाने को कहे। जब इस बात का स्वामी दयानन्द को पता चला तब वे अपने आप ही पारसी के स्थान का त्याग करके सरदार सुजानसिंह के बाग में चले गए। वहां कुछ शरारती लोगों ने स्वामी दयानन्द के व्याख्यान सुनने जाने वालों को यह भी कहा कि दयानन्द अंग्रेजी सरकार का वेतनभोगी प्रचारक है। मूर्तिपूजा का खण्डन करके ईसाई मत की पुष्टि करता है जब इस बात का पता स्वामी को चला तब उन्होंने उसी दिन रात्रि को बाइबल में लिखित अवास्तविक बातों की प्रमाणों के साथ आलोचना की। इससे शरारती लोगों की बोलती बन्द हो गई,

क्योंकि यह सिद्ध हो गया कि स्वामी दयानन्द अंग्रेजों के प्रचारक नहीं।

रावलपिण्डी से जेहल, गुजरात, वजीराबाद गुजरावाला, मुलतान में पाखण्ड विरोधी प्रचार करते हुए वैदिक धर्म का डंका वजाते हुए स्वामी दयानन्द अप्रैल के तीसरे सप्ताह में लाहौर लौट आए। लाहौर से अमृतसर, जालन्धर, लुधियाना, अम्बाला में व्याख्यान देकर जुलाई, १८७७ के दूसरे सप्ताह में पंजाब से विदाई लेकर उत्तरप्रदेश की ओर प्रस्थान किया।

पंजाब वीरों की भूमि है। वहां बलिष्ठ बुद्धिजीवी लोग रहते हैं। धर्म में उन्हें श्रद्धा होती है। साधु संन्यासियों का वहां के लोग खूब स्वागत सत्कार करते हैं। स्वामी दयानन्द जैसा बालब्रह्मचारी विशालकाय, प्रतिभाशाली वेदों का विद्वान, संस्कृत का धुरन्धर पण्डित, तार्किक बुद्धि रखने वाला, आर्यों के प्राचीन गौरव की पुनः प्रतिष्ठा करने के चाहक ने पंजाब की प्रजा पर जादु सा असर किया पौराणिक लोगों की बातों की ईसाई पादरी तथा मुसलमान मौलवी खिल्ली उड़ाकर हिन्दुओं का अपमान करते थे। पौराणिक लोग अपने पेट की पूजा के चक्कर में रहते थे। ईसाई पादरियों तथा मुसलमानों मौलवियों का मुंह तोड़ जवाब देने का उनमें कोई सामर्थ्य नहीं था। इसका परिणाम यह निकला कि राम-कृष्ण की सन्तानें धड़ाधड़ ईसाई व मुसलमान होने लगी। विशेषकर युवक वर्ग ने लोभ-लालच तथा सत्ता के सहारे इस धर्म-परिवर्तन के कार्य को वायुवेग से प्रोत्साहन दिया।

स्वामी दयानन्द लगभग डेढ़ वर्ष पंजाब में रहे—यह उनकी प्रथम और अंतिम यात्रा ही थी। १०-१२ स्थानों में ही वे विशेष रूप से प्रचार कार्य कर पाए। उनके सामने विदेशी ईसाई पादरियों तथा मौलवियों के राजनैतिक, धार्मिक षड्यन्त्रों का चित्र उपस्थित हो गया था। उन्होंने इन मानव-स्थापित मजहबों पर तर्कों के तीरों द्वारा अपनी ओजस्वी वाणी में ऐसे प्रहार किए कि वे मैदान छोड़कर भागते नजर आए। जो लोग लोभ-लालच मूर्खतावश अथवा राज सत्ता के दबाव में आकर अपना धर्म-परिवर्तन करा चुके थे, वे पुनः वैदिक धर्म की दीक्षा लेने लगे।

सनातनी लोगों ने इस बात का बड़ा विरोध किया कि जो हिंदू ईसाई, मुसलमान हो चुके हैं, वे पुनः हिंदू नहीं हो सकते। वे तो

मलेच्छ शूद्र बन गए हैं। उनसे किसी प्रकार का कोई रोटी-बेटी का व्यवहार न करें। स्वामी दयानन्द ने इन संकीर्ण विचारों का जोरदार भाषा में खण्डन करते हुए कहा, "कोई हिन्दू, ईसाई या मुसलमान बन सकता है तो कोई ईसाई या मुसलमान आर्य क्यों नहीं बन सकता ?"

पंजाब की विचारशील प्रजा ने स्वामी दयानन्द को अपनाया। जो बीज स्वामी दयानन्द वहां कुछ समय रहकर बो आए थे उसको उनके भावुक भक्तों ने, जिनमें पण्डित लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला साईंदास, महाशय राजपाल आदि ने अपने तप, त्याग और बलिदान से आगे चलकर वट-वृक्ष का रूप प्रदान किया। पंजाब राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक रूप से आर्यसमाज का गढ़ बन गया।

उत्तरप्रदेश में प्रचार

पंजाब में वैदिक धर्म का डंका बजाकर स्वामी दयानन्द ने उत्तरप्रदेश में गंगा के किनारे स्थित रुड़की शहर के लिए प्रस्थान किया। २५ जुलाई को स्वामी दयानन्द रुढ़की पहुंच गए। यहां आपने बाइबल, कुरान तथा तीर्थों के भ्रष्ट स्वरूपों का खण्डन किया। ईसाई और मुसलमान भड़क उठे। पण्डे-पुजारियों में भी खलबली मच गई। शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया गया। वातावरण तनावपूर्ण देखकर सरकारी अधिकारियों ने उसपर प्रतिबन्ध लगा दिया। थाम्सन कालेज में पढ़ने वाले युवकों तथा पढ़ाने वाले अध्यापकों पर स्वामी दयानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा। २० अगस्त को वहां आर्यसमाज की स्थापना की गई। उत्तरप्रदेश में यह प्रथम आर्यसमाज था जिसकी स्थापना की गई।

२१ अगस्त को स्वामी दयानन्द मेरठ गए। यहां आपने विभिन्न स्थानों पर १५ व्याख्यान दिए। अवतारवाद, देवी-देवताओं की मान्यता, गंगा-स्नान, पापों की मुक्ति, पुनर्जन्म आदि विषयों पर प्रभावशाली व्याख्यान दिए। २६ सितम्बर को मेरठ में आर्यसमाज स्थापित किया गया। अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में स्वामी देहली

पहुंचे। मुहल्ला शाहजी के छत्ते पर धाराप्रवाह व्याख्यान होने लगे। नवम्बर के प्रथम सप्ताह में देहली में भी आर्यसमाज स्थापित किया गया।

देहली से स्वामी दयानन्द अजमेर गए। यहां आपने आवागमन, वैदिक धर्म, प्राचीन आर्यों की उन्नति और गिरावट, परमात्मा आदि विषयों पर व्याख्यान दिए। कुरान और बाइबल की जब आपने आलोचना करनी शुरू की तब ईसाईयों तथा मुसलमानों में उत्तेजना पैदा हो गई। पादरी ग्रे तथा मौलवी मुहम्मद अली शास्त्रार्थ के लिए सामने आए। उन्होंने जो सवाल किए स्वामी दयानन्द ने युक्तियों, प्रमाणों से उनका सुन्दर उत्तर देकर उनका तो मुंह बन्द कर दिया, परन्तु उन्होंने जो सवाल पादरियों और मौलवियों से किए उनका सन्तोषजनक उत्तर वे न दे सके। स्वामी दयानन्द की दिग्विजय हुई। चारों ओर जयजयकार होने लगी। यहां स्वामी दयानन्द ने वेदों में विज्ञान का प्रमाणों के आधार पर प्रतिपादन किया, जिसकी साइंस के जानकारों में काफी चर्चा है।

अजमेर से आप व्याख्यान देकर २ दिसम्बर को बहादुरसिंह के निमन्त्रण पर मसूदा गए।

१० दिसम्बर को नसीराबाद होकर १४ दिसम्बर को जयपुर पहुंचे।

जयपुर में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए रिवाड़ी पहुंचे। राव युधिष्ठिरसिंहजी आपके परम भक्त थे। आपने ११ व्याख्यान वहां दिए।

९ जनवरी, १८७९ को स्वामी दयानन्द देहली पहुंचे। ३ व्याख्यान यहां देकर १६ जनवरी को मेरठ पहुंचे।

हरिद्वार में कुम्भ का मेला होने वाला था। इसलिए २० जनवरी को स्वामी दयानन्द हरिद्वार के कुम्भ में प्रचार करने के लिए पहुंच गए।

हरिद्वार में स्वामी दयानन्द ने श्रवणनाथ के बाग के पास निर्मलों की छावनी के सामने मूला। मिस्त्री के खेतों में अपना डेरा डाला। मेरठ से छपवाकर लाई गई हजारों पत्रिकाएं मेले में बांटी गईं। स्वामी की धार्मिक क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी। पत्रिका मिलते ही लोगों की भीड़ दर्शनार्थ इकट्ठी होने लगी। स्त्री-पुरुषों

का तांता लगने लगा। नित्य प्रातः ६ बजे से १२ बजे तक प्रश्नोत्तरी तथा चर्चा होती। एक से पांच तक व्याख्यान होता। रात्रि को ६ बजे से ९ बजे तक उपदेश होते। ९ बजे के पश्चात् आराम तथा योगाभ्यास करते थे।

कुम्भ के मेले पर स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त अन्य धर्माचारियों का कार्य लगभग अपने अनुयायियों के छोटे दायरे तक सीमित रहता था। लोक-कल्याण की भावना से, निःस्वार्थ भाव से कार्य करने में धर्मगुरुओं की विशेष रुचि नहीं थी। सब अपनी-अपनी दुकानदारी जमाने में लगे हुए थे। अलग-अलग भगवान अलग धर्म, अलग ग्रंथ, अलग पूजा की विधि, अलग-अलग झण्डे अलग-अलग तिलक और कण्ठियों को देखकर स्वामी दयानन्द का दिल द्रवीभूत हो उठता था। उन्होंने लोगों को उपदेश दिया था कि दिखावे के चिह्नों को छोड़ो! वाणी, वर्तन, पवित्र बनाओ। जड़-पूजा छोड़कर सुंदर सृष्टि का सर्जन करने वाले सर्वव्यापक परमात्मा को मानो। मनुष्यकृत ग्रंथों को न मानकर ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार वेद को मानो—तभी विश्व का कल्याण सम्भव है, आदि।

कुम्भ के मेले में अनेक व्यक्ति स्वामी दयानन्द के भक्त बन गए। मेले की समाप्ति पर स्वामी दयानन्द देहरादून चले गए। १४ से ३० अप्रेल तक देहरादून में रहे। ९ व्याख्यान यहां दिए। बाइबल की आलोचना करने पर एक दिन ईसाई उत्तेजित हो गए। परन्तु बहुत करने की उनकी हिम्मत न हुई। २९ अप्रेल को देहरादून में आर्यसमाज स्थापित किया गया। देहरादून से स्वामी दयानन्द सहारनपुर गए।

अमेरिका निवासी थियोसोफिकल सोसायटी के प्रधान कर्नल कल्टर और मैडम ब्लैवस्की १५ फरवरी को बम्बई आ गए थे। वे स्वामी दयानन्द की ख्याति सुन चुके थे। उनकी इच्छा स्वामी से मिलने की थी। बम्बई पहुंचने पर उन्होंने स्वामी दयानन्द को पत्र लिखकर मिलने की इच्छा प्रकट की। वे दोनों बम्बई से सहारनपुर में स्वामी दयानन्द से आ मिले। स्वामी दयानन्द मेरठ जा रहे थे। वे भी उनके साथ मेरठ गए। वहां आपस में खूब विचार-विमर्श हुआ। कर्नल कल्काट तथा मैडम ब्लैवस्की एक वर्ष तक रहे। भारत में स्वामी दयानन्द के साथ उनके स्थानों पर मिले। आर्यसमाज तथा थियोसोफिकल सोसायटी मिलकर कार्य करे, ऐसी प्रार्थना इन

लोगों ने स्वामी दयानन्द से की। स्वामी ने स्वीकृति दी। अमेरिका लौटने पर सोसाइटी ने अपनी मीटिंग बुलाकर निम्न प्रस्ताव पास करके स्वामी दयानन्द के पास भेजा :

'आपको आदरपूर्वक सूचना दी जाती है कि २२ मई, १८७८ को न्ययार्क में थियोसोफिकल सोसाइटी की कौंसिल का जो अधिवेशन प्रैजीडैण्ट की अध्यक्षता में हुआ था उसमें वाइस प्रैजीडैंट ए० विल्डर के प्रस्ताव और कारस्पांडिंग सेक्रेटरी एच पी० ब्लैवैटस्की के अनुमोदन पर सर्व सम्मति से यह निश्चय किया गया कि सोसाइटी आर्यसमाज से मिल जाने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है और यह भी स्वीकार करती है कि इस सोसायटी का नाम भी थियोसोफिकल सोसाइटी आफ दी आर्यसमाज आफ इण्डिया रख दिया जाए। निश्चय हुआ कि थियोसोफिकल सोसाइटी अपने और यूरोप तथा अमेरिका में विद्यमान अपनी शाखाओं के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथ-प्रदर्शक अंगीकार करें।'

अमेरिका वालों की चाल थी कि वे इस बहाने भारत में प्रवेश करना चाहते थे। आर्यसमाज द्वारा इन लोगों ने अपने पांव भारत में जमाने शुरू किए। बहुत समय के पश्चात् इन लोगों ने अपनी अलग दुकानदारी शुरू कर दी। सिद्धान्त की दृष्टि से इन लोगों के साथ चलना कठिन था। वैदिक विचारधारा में पोल चल नहीं सकती। सोसाइटी के लोग चमत्कार आदि की बातों द्वारा भोली-भाली जनता को ठगने भी लगे थे। स्वामी दयानन्द को जब इस बात का पता चला तब उन्होंने मेरठ में सम्वत् १९३७ में वार्षिक उत्सव पर घोषणा कर दी कि थियोसोफिकल सोसाइटी का आर्य समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस घोषणा के होते ही भारत में सोसाइटी से कार्य को काफी धक्का लगा।

मेरठ से स्वामी दयानन्द अलीगढ़, छलेसर होकर ३ जुलाई को मुरादाबाद पहुंचे। यहां आपने राजनीति पर ऐसे सुन्दर व्याख्यान दिए जिनमें १८५७ को क्रांति की असफलाओं के कारणों पर प्रकाश पड़ता था। २० जुलाई को मुरादाबाद में आर्यसमाज स्थापित किया गया। ३१ जुलाई को स्वामी जी बदायूं पहुंचे। यहां पौराणिक पण्डितों ने स्वामी से शास्त्रीय चर्चा की। ये पण्डित दुराग्रही नहीं थे। बदायूं से स्वामी १४ अगस्त को बरेली पहुंचे। यहां

आपके व्याख्यानों को सुनने के लिए लोग काफी संख्या में आते थे। यहां एक विशेष घटना घटी। शहर कोतवाल के पुत्र मुंशीराम काशी में पढ़ते थे। वहां पण्डे-पुजारियों को धर्म के नाम पर पाखण्ड चलाते देखकर नास्तिक हो गए थे। धर्म में उनकी कोई श्रद्धा नहीं थी ईश्वर में उन्हें कोई विश्वास नहीं था। कोतवाल पिता अपने पुत्र मुंशी-रामको स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों में ले गए। व्याख्यान-समाप्ति पर मुंशीराम ने स्वामी से कुछ शंकाएं की। शंकाओं का स्वामी तुरन्त समाधान करते रहे। और कोई सवाल करने का मार्ग न देख कर आखिर मुंशीराम ने स्वामी से कहा, "आपकी तीक्ष्ण बुद्धि ने मुझे निरुत्तर कर दिया, परन्तु आप मुझमें ईश्वर-विश्वास पैदा नहीं कर सके।" स्वामी दयानन्द ने कहा, "वत्स, ईश्वर कृपा होने पर ही तुम्हारे अन्दर ईश्वर विश्वास पैदा होगा।" यही मुंशीराम जो मांस खाता था, शराब पीता था, क्लबों में जाता था, बाद में स्वामी दयानन्द के सत्संग में आकर ऐसा बदल गया कि आगे चलकर राष्ट्र का महान क्रांतिकारी नेता स्वामी श्रद्धानन्द बना, जिसने मैकाले की शिक्षा-पद्धति को चुनौती देकर शुद्ध भारतीय पद्धति से शिक्षा दिलाने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की जो आज विश्वविद्यालय के रूप में राष्ट्र का गौरव बढ़ा रहा है।

बरेली से ४ दिसम्बर को स्वामी दयानन्द शाहजहांपुर गए। वहां धर्मप्रचार करके १८ दिसम्बर को लखनऊ आ गए। लखनऊ में व्याख्यान कर २५ दिसम्बर को फर्रुखाबाद गए।

लाला काली चरण के उद्यान में डेरा डालकर प्रतिदिन धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे। यहां अनेक लोगों में स्वामी दयानन्द से शास्त्रीय चर्चा की। शंकाओं का समाधान कराया। स्वामी के तर्क तथा युक्तियों से चर्चा करने वालों के मुंह बंद हो जाते। स्वामी को नीचा दिखाने की भावना लेकर आए हुए व्यक्ति अन्त में उनके भक्त बनकर लौटते। फर्रुखाबाद से स्वामी दानापुर गए। वहां अपार भीड़ ने उनका स्वागत किया। यहां आपने ईश्वर के सच्चे स्वपरूप की सुन्दर व्याख्या की। मांस खाने से होने वाली हानियों का उल्लेख जब आपने अपने व्याख्यान में किया, तब अनेक ईसाइयों ने भी मांस खाना छोड़ दिया।

यहां एक रात्रि को स्वामी दयानन्द इधर से उधर चक्कर काटने लगे। साथ में सोए भक्त की आंख खुल गई। उसने स्वामीजी से

कहा, "भगवन्, आपको कोई शारीरिक कष्ट हो तो मुझे बताइए। मैं किसी वैद्यजी को बुला लाऊं।"

स्वामी दयानन्द ने गहरी सांस लेकर कहा, "वत्स, मुझे ऐसी व्याधि है जिसके निराकरण की औषधि किसी भी वद्य के पास नहीं है। ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण अपने देश की मेहनतकश जनता की जब आर्थिक दुर्दशा देखता हूं तब बेचैन हो उठता हूं। नींद हराम हो जाती है। ईसाई पादरी आर्य जाति का पथभ्रष्ट करके ईसाई बनाने पर तुले हुए हैं। विदेशियों द्वारा भारतीय प्रजा के धर्म-कर्म को समाप्त किया जा रहा है। धर्म के ठेकेदार—धर्माचार्य, आराम-तलबी बन गए हैं। उनके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। गांव-गांव में प्रचार करने से अब काम नहीं चलेगा। देश के राजाओं और महाराजाओं को यदि सन्मार्ग पर लाया जाए, तो कार्य सुगम हो सकता है। राज-व्यवस्था के आधार पर कार्य शीघ्र किया जा सकता है। अब मैं सारी शक्ति को राजों को सन्मार्ग पर लाने में लगाने का विचार कर रहा हूं।"

दानापुर से धर्म-प्रचार करके काशी, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ, देहरादून, आगरा आदि स्थानों पर ईसाइयों, मुसलमानों, पौराणिक पाखण्डियों की पोल खोलते हुए, वेद की सचाई का प्रतिपादन करते हुए राजाओं के सुधार की भावना लेकर वीर भूमि राजस्थान की ओर अपना कदम बढ़ाया।

राजस्थान में सिंहगर्जना

'राजा कालस्य कारणम्'—राजा ही किसी राष्ट्र के उत्थान और पतन का कारण होता है। राजा यदि अच्छा होता है तो प्रजा भी अच्छी बन जाती है। राजा यदि खराब है तो प्रजा का पतन निश्चित ही है। स्वामी दयानन्द ने राजाओं के सुधार का बीड़ा उठाया। १० मार्च, १८८१ को स्वामी दयानन्द आगरा से भरतपुर पहुंचे। १० दिन वहां धर्मोपदेश देते रहे। आपके वेद-प्रतिपादित मानव-कल्याण कारी विचारों को सुनकर जनता प्रभावित होकर भाव-विभोर हो उठी। जयपुर से निमन्त्रण मिला। भरतपुर में विदाई के समय अपार भीड़ थी।

जयपुर पहुंचने पर स्वामी का भव्य स्वागत किया गया। डेढ़ मास यहां वेदों का डंका बजाते रहे। आर्यसमाज स्थापित हो गया।

अजमेर, जिसे राजस्थान का हृदय कहते हैं, वहां स्वामी के अनेक भक्त थे। मई में जयपुर से वहां पहुंचे। सेठ राजमल की हवेली में व्याख्यानों की खूब धूम रही। २६ व्याख्यान यहां दिए।

पण्डित लेखराम, जिनकी आगे चलकर एक धर्मान्ध मुसलमान ने खंजर मारकर हत्या कर दी थी, पेशावर से विशेष रूप से इन्हीं दिनों स्वामी के दर्शन करने अजमेर आए थे। १० दिन स्वामी के चरणों में रहकर शंका-समाधान कर ज्ञान प्राप्त करते रहे। वे स्वामी से इतने प्रभावित हुए कि सरकारी नौकरी छोड़कर वैदिक धर्म का उपदेश करते-करते शहीद हो गए।

अजमेर से स्वामी दयानन्द मसूदा गए। वहां के ठाकुर बहादुर सिंह आपके परम भक्त थे। २२ व्याख्यान आपने यहां दिए। मसूदा में जैनियों की संख्या काफी थी उन्होंने साधु सिद्धकर्ण को बुलवाकर स्वामी से शास्त्रार्थ कराना चाहा। साधु सिद्धकर्ण को शास्त्रार्थ करने की इच्छा नहीं थी। जैन भाइयों का आग्रह था। उन्होंने एक बहाना खोज निकाला कि जैन सूत्रों में लिखा है कि जैन साधु उसी व्यक्ति से बातचीत कर सकता है जो मुख पर पट्टी बांधता है। स्वामी यह शर्त स्वीकार करें तो हम वार्तालाप कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। स्वामी दयानन्द जैसा व्यक्ति इस प्रकार की बेतुकी बातों को क्यों महत्त्व देते? फिर उन्होंने कहला भेजा कि "कौन-से जैन ग्रंथ के किस सूत्र में इस प्रकार की आज्ञा है?' इसका उत्तर न मिलने पर शास्त्रार्थ न हो सका।

मसूदा के पास ब्यावर शहर में ईसाइयों का उन दिनों बड़ा गढ़ था। पादरी हिन्दुओं को लालच देकर ईसाई बनाते थे। मसूदा के ठाकुर साहब ईसाइयों की इस हरकतों से दुःखी थे। उन्होंने स्वामी से बातचीत की। मसूदा के पास रायपुर में धर्मोपदेश देकर स्वामी दयानन्द ब्यावर पहुंचे। एक गोरे पादरी तथा भारतीय नव ईसाई बिहारीलाल से जो धर्मचर्चा हुई, उसमें वे निरुत्तर हो गए इसका परिणाम यह निकला कि जो हिन्दू ईसाई हो गए थे वे पुनः अपने पुराने धर्म में आ गए। इस क्षेत्र के अनेक राजपूत मुसलमान हो गए थे। उन्होंने विवाह में अपनी बेटियां मुसलमानों को देने की

परम्परा चालू की। स्वामी दयानन्द ने राजपूतों को समझाया और इस प्रथा को रुकवाया। ब्यावर से पुनः मसूदा गए। मसूदा से नवेड़ा गए। नवेड़ा के राजा गोविंदसिंह जी मसूदा के ठाकुर के मामा लगते थे। वहां के राजा धार्मिक विचारों के स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। वहां के राजकुमारों से सस्वर वेदमंत्र तथा गीता के श्लोक सुनकर स्वामी बड़े प्रभावित हुए। उन दिनों चित्तौड़गढ़ में नई रेलवे लाइन चालू की जाने वाली थी। गवर्नर जनरल वहां आने वाले थे। राजस्थान के राजाओं को भी बुलाया गया था। स्वामी दयानन्द को चित्तौड़ जाने का अवसर प्रतीत हुआ। २७ अक्तूबर को नवेड़ा से वहां पहुंच गए। गम्भीरी नदी के किनारे खण्डेश्वर महादेव के मंदिर में डेरा डाला। उदयपुर दरबार में कार्य करने वाले कविराज श्यामलाल स्वामी के श्रद्धालु भक्त थे। उन्होंने स्वामी के चित्तौड़गढ़ में रहने आदि की व्यवस्था कर दी। उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह शिव भक्त थे, पर वास्तव में उन्हें धर्म के प्रति विशेष रुचि नहीं थी। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर कविराज श्यामलालदास, लाला विष्णुलाल, मोहनलाल पाण्डेय ने महाराजा को स्वामी से मिलाना चाहा। भेंट होने पर महाराज उदयपुर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने सरदारों से कहा, "केवल यही एक दिव्य पुरुष मैंने अपने जीवन में देखा है जो बिना किसी लाग-लपेट के निडर होकर सदुपदेश करता है।"

महाराजा सज्जनसिंह ने स्वामी को उदयपुर आने का निमन्त्रण दिया। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह भी यहीं स्वामी दयानन्द से मिले। वे इतने भक्त बन गए कि जीवनपर्यन्त वे पक्के वैदिकधर्मी बन गए। बिना यज्ञ किए मुंह में पानी तक नहीं लेते थे। यह परंपरा अभी भी कुल में चालू है।

चित्तौड़गढ़ से इन्दौर होकर ३० दिसम्बर, १८८१ को स्वामी दयानन्द बम्बई पहुंचे। पांच मास बम्बई में रहकर जून के प्रथम सप्ताह में स्वामी रतलाम होकर उदयपुर आए। नौलखा बाग के 'सज्जन निवास' में आपके रहने आदि की व्यवस्था राजपरिवार की ओर से की गई। महाराज सज्जनसिंह नित्य प्रातः-सायं स्वामी के पास आते और मनुस्मृति के ७-८-९ वें अध्याय, जो राजनीति से सम्बन्धित थे, तथा 'महाभारत' के उद्योग तथा वन पर्व का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते थे।

यहां एक विशेष ऐतिहासिक बात जो हुई वह थी परोपकारिणी सभा (अजमेर) की स्थापना। इस सभा के प्रधान उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह बनाए गए। सभा के उद्देश्य निम्न प्रकार से निश्चित किए गए :

१. वेद और वैदिक शास्त्रों का प्रकाशन और उनका प्रचार।

२. वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक मण्डल नियत करके विदेशों में भेजना।

३. आर्यावर्त के अनाथ और दीनजनों की शिक्षा और पालन का प्रबन्ध करना।

उदयपुर नरेश ने एकलिंग महादेव मन्दिर का महन्त बनने का स्वामी दयानन्द से आग्रह किया, परन्तु जड़-पूजा स्वामी को स्वीकार न थी।

उदयपुर से स्वामी दयानन्द मार्च, १८८२ में शाहपुरा गए। राजा नाहरसिंह तथा उनका परिवार बड़ी श्रद्धा से स्वामी दयानन्द का धर्मोपदेश सुनते थे।

शाहपुरा से एक दिन अजमेर होकर स्वामी दयानन्द ने जोधपुर के लिए प्रस्थान किया। अजमेर में ऋषि के भक्तों ने कहा—भगवन्, आप जोधपुर जा रहे हैं, परन्तु वहां के लोग बड़े भयंकर हैं आपको सत्योपदेश करने नहीं देंगे।

स्वामी दयानन्द ने अपने भक्तों को उत्तर दिया—उंगलियों को यदि कोई काटकर मोमबत्ती बनाकर जला भी दे तो भी मैं वहां जाकर वेद-उपदेश अवश्य करूंगा।

३१ मई को स्वामी दयानन्द जोधपुर पहुंचे। फैजुल्ला खां की कोठी पर आपके निवास आदि की व्यवस्था की गई। महाराजा यशवन्तसिंह, महाराजा प्रतापसिंह, राव राजा तेजसिंह आदि महानुभावों ने स्वामी के पास मिलते आना प्रारम्भ कर दिया। धर्म के नाम पर आपके ओजस्वी भाषण होने लगे। कमजोर से कमजोर राजपूत का हृदय भी स्वामी के व्याख्यान सुनकर धधक उठता था बेजान व्यक्तियों में जान आ जाती थी।

स्वामी दयानन्द अपने व्याख्यानों में इस्लाम का भी खण्डन करते थे। इससे राजदरबार में कार्य करने वाले फैजुल्ला खां ने स्वामी दयानन्द को कहा, "महाराज, आप इस्लाम का खण्डन करते हैं। यदि मुसलमान हकूमत होती तो आप ऐसे व्याख्यान दे सकते

थे ? यदि देते तो आपका जीवित रहना कठिन हो जाता।" स्वामी ने उत्तर दिया, "ऐसी अवस्था में मैं किसी राजपूत की पीठ ठोंकता जो उनकी खबर लेता।"

एक दिन स्वामी दयानन्द नियमानुसार राजदरबार में गए। वहां जब पहुंचे तब उन्होंने देखा—एक वेश्या, जिसका नाम नन्ही-जान है, कहार लोग उसे पालकी में बिठाकर ले जाने की तैयारी कर रहे हैं। महाराज यशवंतसिंह उस वेश्या को विदाई देने के लिए पालकी के पास खड़े हैं। यह दृश्य देखकर दयानन्द का दिल बहुत दुःखी हुआ। महाराज ने जब स्वामी को देखा उस समय मारे शर्म के उनकी गर्दन झुक गई।

स्वामी ने महाराज को कहा, "राजन, शेरों का सम्बंध कुतियों से नहीं हुआ करता।"

स्वामी के इन शब्दों ने राजन पर जादू का-सा असर किया। उन्होंने वेश्या का राजमहल में आना जाना बंद कर दिया। वेश्या को जब पता लगा कि स्वामी दयानन्द के कारण मेरा राजमहल में आना-जाना बंद हो गया है तो वह क्रुद्ध हो उठी। उसने मार्ग में से कांटा निकालना चाहा। षड्यंत्र रचा गया। स्वामी दयानन्द को सदा के लिए खत्म करने की योजना बनाई गई। स्वामी के रसोइए जगन्नाथ को नंही जान ने अपने पास बुलाया। उसे रुपए दे दिए। साथ में कातिल जहर तथा पिसा हुआ कांच भी दिया गया। ये दोनों घातक वस्तुएं स्वामी को दूध में मिलाकर देने का षड्यंत्र रचा गया। रात्रि को स्वामी दयानन्द का रसोइया नियमानुसार दूध गरम कर लाया। स्वामी ने बिना संकोच के दूध पी लिया। थोड़ी देर के पश्चात् स्वामी को पेट में पीड़ा होने लगी। जी मिचलाने लगा। जीभ अकड़ने लगी। तीन-चार उल्टियां हुई। समझ गए कि कातिल जहर दिया गया है।

रसोइये को बुलाया। कांपता हुआ रसोइया स्वामी के पास आया। पूछने पर उसने सारी जानकारी स्वामी को दी। दया के सागर दिव्य दयानन्द ने रसोइये से कहा, नादान तुमने लालच में आकर जघंय अपराध किया है। खैर, तुम ये रुपए लो और नेपाल की ओर चले जाओ, अन्यथा लोग तुम्हें मार डालेंगे।"

रुपए लेकर रसोइया वहां से भाग निकला। यौगिक क्रियाएं करके विष को निकालने का स्वामी ने प्रयास किया। सिर्फ जहर

नहीं था, कांच भी साथ में दिया गया था। हालत खराब होने लगी।
डाक्टर सूर्यमल को बुलाया गया। कोई लाभ नहीं हुआ।

महाराजा प्रतापसिंह ने डाक्टर अली मरदान खां को बुलाया। डाक्टर अली मरदानखां ने ऐसी भयंकर दवाई दी जिससे स्वामी की हालत अधिक खराब हो गई। दिन में कई बार बेहोश भी हो जाते थे। दवाई का ऐसा खराब असर पड़ा कि सारे शरीर और मुंह में छाले पड़ गए।

स्वामी दयानंद ने अपनी शारीरिक स्थिति को अधिक खराब होते देखा तो माउण्ट आबू जाने की इच्छा व्यक्त की ताकि वहां के वातावरण में यौगिक क्रियाएं करके कातिल जहर को निकाला जा सके।

२१अक्तूबर को स्वामीजी को माउण्ट आबू ले जाया गया। मेरठ, जयपुर, फर्रुखाबाद, बम्बई आदि स्थानों पर स्वामी के भक्तों को पता लगा कि स्वामी को विष दिया गया है। चारों ओर से श्रद्धालु लोग दर्शन करने के लिए माउण्ट आबू पहुंचने लगे।

माउण्ट आबू में लक्ष्मणदास ने उपचार किया, परन्तु कोई सुधार नहीं हुआ। भक्तों ने अजमेर चलने का आग्रह किया।

२६अक्तूबर को अजमेर पहुंचे। बड़ा प्रयास किया गया, परन्तु स्थिति में सुधार नहीं हो पाया। सारा शरीर छाले-छाले हो गया। २९ अक्तूबर को बोलने तथा श्वास लेने में भी कठिनाई महसूस होने लगी।

३० अक्तूबर को दीपावली का दिन था। श्रद्धालु भक्तों ने स्वामीजी से स्वास्थ्य के बारे में पूछा। स्वामी ने हंसते हुए उत्तर दिया, "ठीक हूं। एक मास के पश्चात् मैं आज आराम महसूस कर रहा हूं।"

यह सुनकर भक्तों ने राहत की सांस ली, परंतु उन्हें क्या पता था कि जैसे बुझने से पूर्व दीपक विशेष प्रकाश देता है यही स्थिति स्वामी दयानन्द की थी।

सायंकाल ६ बजे स्वामी दयानन्द ने भक्तों से पूछा, "कौन-सा पक्ष कौन-सी तिथि, क्या वार है?" उन्हें बताया गया कि कृष्ण पक्ष का अंत, शुक्ल पक्ष का आदि, अमावस, मंगलवार है।

यह सुनकर स्वामी ने चारों ओर दृष्टिपात किया। भक्तों से कहा, "सब दरवाजे, सब खिड़कियां खोल दो। सामने कोई खड़ा

न रहे।"

दरवाजे, खिड़कियां खोल दी गईं। सामने से भक्तजन हट गए।

स्वामी दयानन्द के आंखें वंद करके सस्वर वेदमंत्रों का उच्चारण किया। संस्कृत तथा हिन्दी में परमात्मा की स्तुति की। गायत्री मंत्र का पाठ किया। "प्रभु, तेरी यही इच्छा है—तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की!" यह शब्द कहकर स्वामी दयानन्द सीधे लेट गए। फिर करवट लेकर एक गहरी सांस ली और वाहर फेंक दी। चेहरे पर रोशनी की एक झलक दिखाई दी। उपस्थित लोगों ने देखा, दिव्य महापुरुष स्वामी दयानन्द इस दुनिया से दीपावली के दिन, जव सव लोग अपने घर-द्वार पर दीपक जला रहे थे, तव यह महान योगी अपने प्रकाशमय जीवन से असंख्य अप्रकाशित जीवनों में प्रकाश की ज्योति जलाकर प्रभु की महान ज्योति में विलीन हो गए।

मृत्यु के समय एक नास्तिक वैज्ञानिक पण्डित गुरुदत्त लाहौर से विशेष रूप से स्वामी दयानन्द से मिलने अजमेर गए हुए थे। मृत्यु समय वह स्वामी के समीप उपस्थित थे। उन्होंने देखा कि स्वामी का सारा शरीर छलनी वन चुका है, शरीर की भयंकर अवस्था वन चुकी है, लेकिन फिर भी ईश्वर में विश्वास रखने वाला यह व्यक्ति कितना संतुष्ट है!। यह दृश्य देखकर नास्तिक हृदय गुरुदत्त महान आस्तिक ऋषि-भक्त वन गए। स्वामी के जीवन तथा कार्यों से अनेक व्यक्तियों का कायाकल्प हुआ, परन्तु उनकी मृत्यु ने भी एक भयंकर नास्तिक को आस्तिक वना दिया।

३१ अक्तूबर को स्वामी दयानन्द की भव्य श्मशान यात्रा निकाली गई। स्वामी की वसीयत में लिखे अनुसार पूर्ण वैदिक विधि से अजमेर के अनासागर के तट पर अन्त्येष्टि की गई। देशभर में वायुवेग से स्वामी दयानन्द की मृत्यु के समाचार फैले। न सिर्फ स्वामी के भक्त आर्यसमाजी दुःखी हुए, अपितु अन्य हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों ने उन्हें भावपूर्ण श्रद्धांजलियां अर्पित कीं।

मृत्यु से पूर्व स्वामी दयानन्द जो वसीयत लिख गए थे, उसमें उस महान आत्मा ने यह भी लिख दिया था कि—'मेरी मृत्यु पर मेरी अस्थियों को उन किस्मों के खेतों में बिखेर देना जहां मेहनतकश किसान अनाज पैदा करता है।'

स्वामी दयानन्द को डर था कि उनके अनुयायी कहीं समाधि बनाकर जड़पूजा न शुरू कर दें। वसीयत में लिखे अनुसार स्वामी की भस्म को खेतों में बिखेर दिया गया। ज्योति महान ज्योति में विलीन हो गई।

स्वामी दयानन्द की वसीयत

मैं दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार २३ सज्जन पुरुषों की सभा को निजी वस्त्र, पुस्तक, धन, यंत्रालयादि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूं। और उसको परोपकारादि शुभ कार्य में लगने के लिए अधिकार देकर स्वीकारपत्र लिख देता हूं कि समय पर काम आए। इस सभा का नाम परोपकारिणी सभा है, और निम्नलिखित २३ महाभाष्य इसके सभासद हैं :

१. श्रीमान महाराजाधिराज महेन्द्र यादव आर्यकुल दिवाकर महाराणाजी श्री १०८ सज्जनसिंह वर्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुरधीश, उदयपुर (मेवाड़) सभापति।

२. लाला मूलराजजी एम० ए०, एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर, लुधियाना निवासी, लाहौर, उप-सभापति।

३. श्रीयुत् कविराज श्यामलदासजी, उदयपुर (मेवाड़) मंत्री।

४. लाला रामशरणदास रईस व उप-प्रधान आर्यसमाज, मेरठ।

५. पण्डया मोहनलाल विष्णुलाल जी, मथुरानिवासी, उदयपुर उपमंत्री।

६. श्रीमान महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा, शाहपुरा सभासद।

७. श्रीमत् रावत तखतसिंहजी वेदलेराज, मेवाड़।

८. श्रीमत् राजराना श्री फतेहसिंहजी वर्मा, देलवाड़ा।

९. श्रीमत् रावत श्री अर्जुनसिंहजी वर्मा, आसीद।

१०. श्रीमत् महाराजा श्री गर्जसिंहजी वर्मा, उदयपुर।

११. श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्मा, मसूदा, अजमेर।

१२. रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल, सुपरिन्टेंडेंट वर्कशाप व प्रेस, अलीगढ़।

१३. राजा जयकृष्णदासजी सी० एस० आई० डिप्टीकलेक्टर, विजनौर (मुरादाबाद)।

१४. बाबू दुर्गाप्रसादजी, कोषाध्यक्ष आर्यसमाज, फर्रुखाबाद।

१५. लाला जगन्नाथप्रसादजी, फर्रुखाबादी।

१६. सेठ निर्भयराम, प्रधान आर्यसमाज, फर्रुखाबाद।

१७. ला० कालीचरण रामचरण, मंत्री आर्यसमाज, फर्रुखाबाद।

१८. बा० छेदीलालजी, गुमाश्ता कमसरीयेट छावनी; मुरार, कानपुर।

१९. ला० साईंदास, मंत्री आर्यसमाज, लाहौर।

२०. बा० मांधोप्रसादजी, दानापुर।

२१. रायबहादुर पंडित गोपालराव हरि देशमुख, मैम्बर कौंसिल—गवंनर बम्बई व उपप्रधान आर्यसमाज, बम्बई-पूना।

२२. रायबहादुर महादेव गोविंद रानाडे, जज, पूना।

२३. पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा, संस्कृत प्रोफेसर, यूनिवर्सिटी लंदन, आक्सफोर्ड।

स्वीकार पत्र के नियम

१. उक्त सभा जैसे कि नियमानुसार मेरी ओर से समस्त सर्वस्व की रक्षा करके परोपकारी कार्यों में लगती है, वैसे ही मेरी मृत्यु के पीछे भी लगाया करे।

२. वेद-वेदांगादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनके व्याख्यान करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में मेरा धन लगाएं।

३. वेदोक्त धर्म के उपदेश और उनकी शिक्षा अर्थात् उपदेशक मण्डली नियत करके देश-देशांतरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में पहुंचकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग आदि में व्यय करें।

४. आर्यावर्त के दीनों और अनाथों की सहायता और उनको शिक्षा देने में खर्च करें और कराएं।

५. जैसे मेरे जीवन में यह सभा प्रबन्ध करती है वैसे ही मेरी मृत्यु के पीछे तीसरे या छठे महीने में किसी सभासद को वैदिक

...लय का हिसाब-किताब (बहीखाते) समझने और पड़ताल ...ने के लिए भेजा करे और वह सभासद वहीं जाकर सारे आय-...की जांच-पड़ताल करे और उसके नीचे अपने हस्ताक्षर करे ...र इस पड़ताल की एक-एक प्रति हर एक सभासद के पास भेजे। ...र यदि छापेखाने के प्रबन्ध में कुछ नुक्स देखे तो उसकी निवृत्ति ...विषय में अपनी सम्मति लिखकर हर सभासद के पास भेज दे, ...र प्रत्येक सभासद को उचित है कि अपनी-अपनी सम्मति सभा-...ति के पास लिख भेजे। और सभापति सबकी सम्मति से यथो-...त प्रबंध करे। इस विषय में कोई सभासद आलस्य या अनुचित ...र्रवाही न करे।

६. इस सभा को उचित है कि जैसा यह परम धर्म और परमार्थ ...काम है वैसा ही उसको उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदा-...ता से करे।

७. उक्त २३ आर्य मनुष्यों की सभा मेरी मृत्यु के अनन्तर ...प्रकार से मेरी प्रतिनिधि समझी जाए अर्थात् जो अधिकार मुझे ...ने सर्वस्व पर है वही अधिकार सभा को होगा। उक्त सभ्यों में ...दि कोई महाशय स्वार्थता में पड़कर उन नियमों से विरुद्ध काम ...रे या कोई अन्य मनुष्य हस्तक्षेप करे तो नितान्त झूठा समझा ...ए।

८. जैसे इस सभा को वर्तमान काल में मेरी और मेरे सब ...र्थों की यथाशक्य रक्षा और वृद्धि करने का अधिकार हैं, वैसे ...इसको मेरी मृतक देह के संस्कार आदि करने का अधिकार है। ...ब मेरा शरीर छूटे, न तो उसको गाड़ा जाए, न जल में बहाया जाए, ...न्तु केवल चंदन की चिता में जला दें और यदि यह सम्भव न हो, ...तो २ मन चंदन, ४ मन घी, ५ सेर मुश्क काफूर, अढ़ाई मन अगर-...गर १० मन लकड़ी लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कार विधि में ...लिखा है, वेदी बनाकर वेदमंत्रों से जो उसमें दर्ज हैं, भस्म करें। वह ...भस्म खेतों में बिखेर दे, इसके सिवा वेद-विरुद्ध और कुछ न करें। ...और यदि इस सभा का कोई सभासद उस समय विद्यमान न हो, ...तो जो कोई विद्यमान हो वही यह काम करे और जितना धन लगे ...उतना सभा से ले लेवे और सभा उसको दे दे।

९. अपनी उपस्थिति में मुझे और मेरे पीछे इस सभा को अधि-...कार है कि उक्त सभा में से जिसको चाहे निकाल दे और उसके

स्थान पर अन्य किसी योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को उसका प्र
निधि नियत कर ले। परन्तु कोई सभासद तब तक निकाला
जाएगा जब तक उसके काम में कुछ अनुचित व्यवहार न
जाए।

१०. मेरे सदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या
उसके नियमों व प्रबन्धों की पालना, या किसी सभासद के
करने और उसके स्थान पर अन्य सभासद नियत करने और
विपत् और आपत्काल को निवृत्त करने के उपाय व यत्न में
उद्योग करे जो सब सभासदों की सम्मति से निश्चय और नि
पाया जाए। और यदि सभ्यों की सम्मति में विरोध रहे तो (
रत राय) अधिक सम्मतियों पर काम करे और सभापति को
द्विगुणा समझा जाए।

११. किसी अवस्था में भी यह सभा तीन से अधिक सभा
को दोषी ठहराकर तब तक अलहदा (अलग) न कर सकेगी,
तक उनके स्थान पर और सभ्य नियत न कर ले।

१२. यदि सभा में से कोई पुरुष परलोक सिधार जाए या
नियमों और वेदोक्त धर्म को छोड़कर विपरीत चलने लगे, तो
पति को उचित है कि सब सभ्यों की सम्मति से उसको अलहदा
उसके स्थान पर वेदोक्त धर्मयुक्त आर्यपुरुष को नियत करे;
उस समय तक साधारण कामों के सिवा कोई नया कार्य आरम्भ
किया जाए।

१३. इस सभा को अधिकार है कि हर प्रकार का प्रबन्ध
और नई युक्ति निकाले, परन्तु यदि सभा को अपने परामर्श
विचार पर पूरा-पूरा निश्चय और विश्वास न हो तो लेख द्वारा
समय के पीछे समस्त आर्यसमाजों से सम्मति ले और सम्मतियों
अधिकता पर यथोचित प्रबन्ध करे।

१४. प्रबन्ध न्यूनाधिक करना, स्वीकार-अस्वीकार करना
किसी सभासद को हटाना या नियत करना व आय-व्यय की
पड़ताल और अन्य हानि-लाभ के कार्यों को सभापतिजी वार्षिक
षडमासिक छपवाकर डाक द्वारा सब सभासदों में बांटा करें।

१५. यदि इस स्वीकारपत्र के विषय में कोई झगड़ा खड़ा
जाए तो उसको सरकारी न्यायालय में पेश न करना चाहिए।
सभा अपने-आप न्याय करे। परन्तु यदि अपने से न निबटे तो

मूह में पेश करके कार्यवाही की जाए।

१६. यदि मैं अपने जीते-जी किसी योग्य आर्यपुरुष को पारितोषिक देना चाहूं और उसको लिखत-पढ़त कराके रजिस्ट्री करा दूं तो सभा को उचित है कि उसको माने और दे।

१७. मुझे और मेरे पीछे सभा को सर्वथा अधिकार है कि उपर्युक्त नियमों को किसी विशेष देशोन्नति के शुभकार्य तथा सर्वसाधारण के लाभ के लिए न्यूनाधिक करे।

ह० दयानन्द सरस्वती

उपसंहार

गत पांच हजार वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्वामी दयानन्द जैसा सूक्ष्मदर्शी, दिव्यदृष्टा, युगपुरुप वेदाभिमानी, वेदों के यथार्थ स्वरूप का व्याख्याता, नाना मत-सम्प्रदायों के जाल से मानव-जाति को मुक्त कराकर पारस्परिक एकता और प्रेम के सूत्र में विश्व को बांधने वाले, प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति को गौरव-पद दिलाने वाले, नीच-ऊंच की दीवार गिराकर सबको समान अधिकार दिलाने वाले, निडर होकर पाखण्डों की पोल खोलने वाले सत्य-सनातन वैदिक धर्म का विश्व में झण्डा फहराने वाले, अभय, बाल-ब्रह्मचारी, राष्ट्रवादी रहवर हमें ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता। स्वामी दयानन्द वास्तव में नीर क्षीर-विवेकी, परमहंस, परिव्राजकाचार्य थे, जिनके दर्शनमात्र से अनेक पतित मनुष्य पावन हो गए। उनका व्यक्तित्व महान था।

स्वामी दयानन्द की जीवनी क्या है? सतत् प्रकाशपुंज की वह ज्योतिर्मयी किरण है जिसको पढ़कर कोई भी व्यक्ति प्रेरणा पाकर अपने जीवन को आलोकित कर सकता है। क्योंकि यह जीवनी एक ऐसे ज्योतिर्धर की जीवनी है, जिससे अथक परिश्रम तथा कर्तव्यनिष्ठा के आधार पर महान बनकर विश्व-कल्याण का कार्य करते हुए विषपान कराने वाले हत्यारे पर भी दया करके उसे जीवनदान दिया और स्वयं अपने जीवन की आहुति देकर अमर पद को प्राप्त किया।

स्वामी दयानन्द पर महापुरुषत्व किसी ने थोपा नहीं था। और

न जन्म या जन्मकालीन परिस्थितियों ने उन्हें महत्त्व प्रदान की थी। स्वामी दयानन्द के जीवन-निर्माण में उनके श्रम और साधना ने ही उन्हें महापुरुषों में शिरोमणि बनाया था। उनके जीवन में क्षमाशीलता, करुणा, दयालुता, उदारता, निडरता, परोपकार, विश्व-बन्धुत्व आदि की घटनाएं जिस रूप में आई हैं। वैसी रोचक और अद्भुत एवं शिक्षाप्रद घटनाएं अन्य महापुरुषों के जीवन में हमें नहीं मिलतीं।

मन, वचन, कर्म से समानता से सोचने वाला, उसके अनुरूप कार्य करने वाला, उनके लिए कष्ट सहकर भी कदम को आगे बढ़ाने वाला कोई निर्भीक नेता हुआ है तो वह स्वामी दयानन्द था, जिसके सामने अनेक प्रकार के प्रलोभन आए, धमकियां मिलीं, हमले हुए फिर भी दिव्यदृष्टा दयानन्द-स्व-कल्याण की चिन्ता न करके मानव मात्र के कल्याण की भावना से अन्तिम दम तक कार्य करते रहे।

स्वामी दयानन्द कोरे समाज-सुधारक तथा धार्मिक पुनर्जागरण के ही प्रवर्तक नहीं थे, अपितु प्रचण्ड राष्ट्रवादी क्रांतिदर्शी पुरुष थे। उन्होंने सर्वप्रथम प्रजातांत्रिक शासन-पद्धित के आधार पर आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म एवं संस्कृति की आधारशिला पर राष्ट्रीयता के सुन्दर, सुदृढ़, अजेय दुर्ग के निर्माण की अभूतपूर्व योजना बनाई। इसके अन्तर्गत हर व्यक्ति का गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर विकास हो सकता है। कोई किसी भी व्यक्ति का किसी भी क्षेत्र में शोषण नहीं कर सकता। मानवता की दृष्टि से हर व्यक्ति सम्मान का पात्र है। चाहे वह किसी भी परिवार में पैदा क्यों न हुआ हो उससे नीच-ऊंच की भावना रखकर घृणा करना ईश्वर की आज्ञा का उलंघन करना है। ईश्वरीय आज्ञा का पालन न करना महा पाप है।

मानवों द्वारा स्थापिन मतों और सम्प्रदायों की प्रचलित अवैदिक, मानव-हत्यारी मान्यताओं में मानव और समाज को भ्रष्ट करके रख दिया था। स्वामी दयानन्द ने कहा—मानव अल्पज्ञ है। उनके चक्कर में पड़ने वाला मनुष्य परम आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सका। परमानन्द की प्राप्ति एकमात्र सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापक परमात्मा से ही प्राप्त हो सकती है। जिज्ञासु जन विशाल सृष्टि की रचना को देखकर उसकी अनुभूति करता है। प्राणी-मात्र में उसका वास समझकर सबसे प्यार करने लगता है। यही कारण था

स्वामी दयानन्द ने न सिर्फ अपना मत-सम्प्रदाय बनाया अपितु अपने पार्थिक शरीर की भस्मी को भी खेतों में डाल देने का भक्तजनों को आदेश दिया था, ताकि कोई उनकी समाधि बनाकर पूजा न करने लग जाए।

प्रतिकूल विचारधार को अपनाकर चलना पैने छुरे की धार पर चलना होता है। स्वामी दयानन्द के मानव-कल्याण की भावना को सामने रखकर प्रतिकूल परिस्थितियों में चलना स्वीकार किया, जिसके कारण उन्हें अनेक बार जहर दिया गया, ईंट-पत्थर मारे गए, अनेक प्रकार षड्यन्त्र रचे गए। अन्त में हत्यारों ने दया के सागर दयानन्द की हत्या कर ही दी।

पश्चिमी संस्कृति की घुसपैठ के विरुद्ध जहां अन्य महापुरुषों एवं सुधारकों ने आत्मरक्षात्मक नीति अपनाई वहां स्वामी दयानन्द ने प्राचीन वैदिक सभ्यता और शिक्षा के शास्त्रागार से प्राप्त प्रभावशाली शस्त्रों से लैस होकर उनपर ऐसा आक्रमण किया कि प्रतिद्वन्दी मैदान छोड़कर भागते नजर आए। स्वामी दयानन्द के प्रबल प्रहारों से देशवासियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ कि हमारी सभ्यता और संस्कृति पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

'भारत, भारतवासियों का'—यह नारा सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द ने दिया। भारत में अंग्रेजों द्वारा हो रहे शोषण के खिलाफ विद्रोह खड़ा करने का श्रेय भी स्वामी दयानन्द को प्राप्त है। राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने तथा एकता लाने के लिए एक भाषा का होना परमावश्यक था। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी फिर भी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित करवाने का सर्वप्रथम प्रयास किया। अपने तमाम ग्रंथ संस्कृत तथा विशेष कर हिन्दी भाषा में ही लिखे। इतना ही नहीं, हिन्दी भाषा को 'आर्य भाषा' की संज्ञा दी तथा अपने द्वारा स्थापित आर्यसमाज के तमाम सदस्यों के लिए हिन्दी का प्रर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक बताया। आपका विचार था कि विश्व की तमाम भाषाओं की एक लिपि हो और वह देवनागरी लिपि हो।

स्त्री-जाति को समाज में हीन भावना से देखा जाता था। पुरुषों ने उन्हें चौके-चूल्हे में लगी रहने वाली दासी अथवा भोग-विलास एवं संतानें पैदा करने का साधन-मात्र समझ रखा था। पर्दा-प्रथा

के कारण महिलाएं कुछ कर पाने में असमर्थ थीं। ऐसी अवस्था में उन्हें शिक्षा देना अथवा दिलाना असम्भव था। पौराणिक परम्पराओं में स्त्री न वेद पढ़ सकती थी, न हवन संध्या कर सकती थी और न शिक्षा के केन्द्रों में जाकर ऊंची शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। स्वामी दयानन्द ने स्त्री-जाति पर हो रहे अत्याचार के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया। उन्होंने कहा, जब तक मानव की निर्मात्री स्त्री जाति को सभ्य, शिक्षित और संस्कारयुक्त नहीं बनाया जाएगा, तब तक विश्व की मानव-जाति सभ्य, संस्कारी और शिक्षित नहीं हो सकती। बालक की प्रथम गुरु और मार्गदर्शक माता को मानते हुए आपने स्त्री-जाति को शिक्षा दिलाने के लिए कन्या गुरुकुलों की स्थापना करने की हिमायत की। आगे चलकर उनके अनुयायियों ने इसे क्रियात्मक रूप देकर सराहनीय कार्य किया।

भारत की पराधीनता का सबसे बड़ा कारण जन्ममूलक जातिवाद था। जातिवाद ने शक्तिशाली आर्य प्रजा को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट दिया था। इसका परिणाम यह निकला कि ये जातियां आपस में लड़ने लगीं। इस आपसी फूट का विदेशियों ने लाभ उठाया। हम अपने वतन में बहुसंख्यक होते हुए भी मुट्ठी-भर विदेशियों के सदियों गुलाम रहे। गुलामी के उस काल में आर्यवर्त देश का जो पतन हुआ उसका वर्णन यहां करना असंगत है। परन्तु यह हकीकत है कि उस पतन की अवस्था में स्वामी दयानन्द ने ऐसे कुशल मल्लाह का कार्य किया जिसकी नाव भयंकर तूफान, आंधी और वर्षा की स्थिति में बीच मंझधार में डांवाडोल हो रही थी; फिर भी बड़ी सावधानी और कुशलता से उसने नाव किनारे लगाई।

अस्पृश्यता, नीच-ऊंच की अमानवीय भावनाओं ने मानव-समाज में एक ऐसी दीवार खड़ी कर दी थी कि मानव मानव से घृणा करने लगा था। सवर्ण कहलाने वाले वर्ग ने अछूत समझी जाने वाली जाति के लोगों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किए। अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। ईसाइयों तथा मुसलमानों ने अपने राजनैतिक स्वार्थ की सिद्धि प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचे। लोभ, लालच तथा राजसत्ता के जोर पर उनका धर्म-परिवर्तन कराया जाने लगा। स्वामी दयानन्द ने इस राजनैतिक षड्यन्त्र का न सिर्फ भण्डा फोड़ा अपितु उनके सामने लाल बत्ती रखते हुए उनकी विचारधारा का युक्तियों और प्रमाणों से पर्दाफाश किया। स्वामी दयानन्द ने

अछूत समझे जाने वाले लोगों को समानता का दर्जा दिलाने के लिए आंदोलन चलाया। उनके बच्चों को सवर्ण समझे जाने वाले लोगों के बच्चों के साथ शिक्षा दिलाने के लिए गुरुकुलों में समान व्यवस्था का विधान घोषित किया, जिसको आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द आदि आर्यसमाज के नेताओं ने साकार रूप दिया।

मानव-जीवन के हर पहलू में जन्म से लेकर मृत्यु तक तमाम समस्याओं का समाधान स्वामी दयानन्द ने किया है। उनके द्वारा लिखित ग्रथों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने से पता लगता है कि उनका ज्ञान कितना गहरा और विशाल था। जीवन के थोड़े-से कार्य काल में उन्होंने कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सतत् प्रचार-प्रवास शास्त्रार्थों के साथ-साथ संस्थाओं की स्थापना करना और बाकी के समय में अद्भुत और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना स्वामी दयानन्द जैसे तपस्वी ही कर सकता था।

स्वामी दयानन्द सत्यनन्द सत्य के उपासक थे। उन्होंने संसार के लोगों को असत्य बातें न मानने के लिए कहा। अंधविश्वासी न बनकर, हर कार्य बुद्धिपूर्वक करने की आपने अपने भक्तों और प्रशंसकों, को प्रेरणा दी। यह बात संसार के इतिहास में बेमिसाल है। प्राय: देखा गया है कि हर व्यक्ति अपनी कही गई बात के आधार पर संसार को चलने की प्रेरणा देता है। स्वायी दयानन्द के विशाल जीवन-चरित्र तथा कार्यों पर दृष्टिपात करते समय यदि इसी एक बात को ही ले लिया जाए कि उन्होंने अपनी पूजा न करने का जो आदेश दिया तो यह अपने आप में एक बेमिसाल घटना है। इसी एक घटना से स्वामी दयानन्द के जीवन में चार-चांद लग जाते हैं यही कारण है कि विश्व के प्रसिद्ध वैज्ञानिक दार्शनिक, विद्वान नेताओं ने नतमस्तक होकर एक स्वर में स्वामी दयानन्द की वन्दना की है।

स्वामी श्रद्धानन्द

भारत वर्ष की वर्तमान राजधानी दिल्ली के प्रसिद्ध चां चौक (जहां पहले घण्टाघर था) पर आज से ५१ वर्ष पूर्व ३० नव सन् १९१९ ई० की स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिकों का एक वि जन समूह आगे बढ़ने की कोशिश में था। अंग्रेज सरकार ने अ को रोकने के लिए गोरा पल्टन को संगीनों के साथ वहां खड़ा कि और उन्हें आदेश दिया गया—जो आगे बढ़े उसे गोली का शि बना दिया जाए।

गोरा पल्टन के संगीनें उठाने पर स्वतन्त्रता संग्राम के सि हियों का जलूस रुक गया। किसी को आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। इतने में जन समूह को चीरते हुए, एक भगवा वस्त्रधा विशालकाय तेजस्वी आंखों वाले संन्यासी वहां आ पहुंचे। अंगर के बटन खोलते हुए उस विशाल देह वाले संन्यासी ने जोर से गर्ज करते हुए गोरा पल्टन को ललकारा—"चलाओ गोली।" संन्य की गर्जना क्या थी मानो शेर गर्जा। जैसे जंगल में शेर की गर्ज पर छोटे बड़े जानवार अपनी जान बचाकर भाग जाते हैं, वैसा हाल उस दिन चांदनी चौक पर खड़े गोरा सिपाहियों का था। स संन्यासी की गर्जना होते ही संगीनें झुका दीं — मार्ग साफ हो गया जलूस शान के साथ आगे अपने मार्ग की ओर बढ़ा।

यह वही अमर शहीद संन्यासी श्रद्धानन्द थे जिसने खिला आन्दोलन में मुसलमानों की इतनी सेवा की वे (मुसलमान) उन गले का हार बन गए। दिल्ली की जग प्रसिद्ध जुमा मस्जिद का ब दरवाजा जो शहनशाह आलमगीर के नमाज पढ़ने आने के सम खोला जाता था—उसी दरवाजे से सन्यासी श्रद्धानन्द को सवा दिल्ली के जुमा मस्जिद में धूम-धाम से ले गए। और जिस व्याख्या मंच पर आज तक कोई गैर मुस्लिम व्याख्यान नहीं दे सका—उ पवित्र मंच से संन्यासी श्रद्धानन्द ने "हिन्दू-मुस्लिम" एकता को मजबूत करने की कोशिश की थी।

स्वार्थ पूरा हो जाने पर जब मुसलमानों को देश के शासन विभाग में सुरक्षित सीटें मिल गई तो फिर वे अंग्रेजों की जेब में जा बैठे। यह देखकर संन्यासी श्रद्धानन्द को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने "शुद्धि आन्दोलन चलाया और वह इसलिए कि वे देख चुके थे कि अपना सर्वस्व देकर भी हिन्दू तब तक मुसलमानों को भारतीय नहीं बना सकता जब तक कि उनके हृदय में भारतीय संस्कृति और देश का प्रेम न हो, इसलिए नौ मुस्लिमों को जो भारतीय बनाए रखने के लिए उन्होंने आन्दोलन शुरू किया था। गांधी जी संन्यासी श्रद्धानन्द जी की दूरदर्शिता को अन्त तक नहीं समझ पाए क्योंकि गांधी जी "संत" थे। और संन्यासी श्रद्धानन्द "राजनीतिक सन्त" थे जो शठ की शठता की लाठी भी तोड़ना जानते थे और निहत्था करके उसे सीधा करना भी। वह हमेशा राष्ट्र के सामने आने वाली मुसीबतों को पहले से ही जान लेते थे और उसके निवारणार्थ कोई न कोई हल निकाल कर उसे कार्य रूप में परिणित कर दिखाते थे। तभी तो अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने संन्यासी श्रद्धानन्द की शहादत पर अपने दैनिक पत्र "प्रताप' (कानपुर) के अग्रलेख में उन्हें राजऋषि कहकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

उस समय संन्यासी श्रद्धानन्द के चलाए "शुद्धि आन्दोलन" का विरोध किया। और उनकी उस वृत्ति ने आगे चलकर ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया जिससे १९४७ में भारतवर्ष का विभाजन हुआ। लाखों इन्सान मारे गए, अरबों की सम्पत्ति लूटी और नष्ट कर दी गई। मातृशक्ति की इज्जत लूटी गई, और हिन्दू-मुसलमान हमेशा के लिए एक दूसरे से अलग हो गए और नफरत करने लगे। इतिहासकारों का मत है कि 'तैमूर तथा नादरशाह जैसे अत्याचारी मुसलमान बादशाहों ने अत्याचार किए उनमें कुल मिला कर तीस हजार से अधिक हिन्दुओं का वध नहीं किया गया परन्तु पाकिस्तान होने पर लाखों इन्सान मारे गए, यदि शुद्धि आन्दोलन चलाने दिया जाता तो करोड़ों मुसलमान भारत के भक्त रहते और भारत अखण्ड रहता।

आज भी कट्टर साम्प्रदाय मुसलमान भारत को अपना देश नहीं मानते और अरब की ओर पांव करके सोना पाप समझते हैं इस समय अल्ला हो अकबर "पाकिस्तान जिन्दाबाद" के नारे भारत भूमि पर लगाए जाते हैं। भारत सरकार की मदद से चलने वाली

अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में बैठकर देशद्रोह के षड्यंत्र रचे जाते हैं। यदि सन् १९२४-२५ के शुद्धि आन्दोलन में आर्य समाज और संन्यासी श्रद्धानन्द का साथ दिया जाता तो भारत का इतिहास कुछ और होता।

वैदिक (मानव) धर्म के अनुयायी संन्यासी श्रद्धानन्द मानव मात्र से प्रेम करते थे। इतना होते हुए भी वे राष्ट्र विरोधी होते हुए भी तत्वों को कभी सहन नहीं करते थे। राष्ट्रवादी हिन्दू मुस्लिम उनकी दृष्टि में एक समान थे। कुछ समय पूर्व मुझे वीरम गांव (सौराष्ट्र) जाने का मौका मिला। वहां अचानक एक वृद्ध मुस्लिम भाई करीम खां जिसकी उम्र ८८ वर्ष है और वीरम गांव की एक सिनेमा के मालिक हैं, उनसे भेंट हो गई। मैं आर्य समाजी हूं, यह जानकर वह बड़े प्रसन्न हुए। स्वागत में उन्होंने घर पर चाय आदि बनाई "मैं चाय नहीं पीता कहकर मैंने इन्कार किया। मैंने सेठ करीम खां से पूछा—खान साहब। आप आर्य समाजी को मिलकर इतने खुश क्यों होते हैं? खान साहब ने कहा—"भाई साहब! मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी से बहुत बार मिला। उनके जीवन का मुझे पर काफी प्रभाव है। उनके ब्रह्मचर्य व्रत से मैं बहुत प्रभावित हूं। मैं भी उनके पद चिह्नों पर चलने की कोशिश करता हूं। यही कारण है कि ८८ वर्ष की आयु में भी मैं पूर्ण स्वस्थ हूं और आप उस मेरे पथ प्रदर्शक संन्यासी के अनुयायी हैं इसलिए मुझे आपसे मिलकर खुशी हो रही है।"

आपने बताया कि मैंने उस देव पुरुष को सर्व प्रथम इलाहाबाद में पण्डित जवाहरलाल नेहरु के पिता पण्डित मोतीलाल नेहरु के साथ देखा था। उन दिनों गो हत्या बन्दी के बारे में बात-चीत चलती थी, मैं भी वहां था। मुझे स्वामी जी के वे शब्द आज भी याद हैं जो उन्होंने गोरक्षा के सम्बन्ध में कहे थे कि —

"गो-घास खाकर हिन्दू-मुसलमानों को समान रूप से अमृत रूपी दूध देती है। इसलिए हिन्दू मुसलमानों को मिलकर गोरक्षा आन्दोलन चलाना चाहिए। बहुत से लोग गाय का दूध अपने स्वार्थ के लिए लेते हैं इससे होता यह है कि उनके बछड़े (सन्तान) को पूरी मात्रा मे दूध नहीं मिल पाता जिसके कारण वह कमजोर हो जाता है यदि गौ के बछड़े को पूरी मात्रा में माता का दूध पिलाया जाए तो वह अधिक समय तक सुन्दर रूप में मददगार हो सकता है।"

करीम सेठ ने कहा—उसके बाद भी दिल्ली में मैं उनसे कई बार मिला। वे मुझे कुछ न कुछ खिलाए बिना नहीं छोड़ते उन्होंने बताया मैंने आपने अपने घर में उनकी सुन्दर तस्वीर मढ़ा कर लगाई हुई है जिससे मुझे बहुत कुछ प्रेरणा मिलती है। उन्होंने अंदर कमरे में ले जाकर लगाई हुई स्वामी श्रद्धानन्द की भव्य तस्वीर भी दिखाई।

हिन्दू मुसलमानों के शुभ इच्छुक, सबका हित चाहने वाले देव-पुरुष संन्यासी श्रद्धानन्द जिसने मुसलमानों का भला करने में कोई कसर नहीं छोडी थी, उसको एक मतान्ध मुसलमान अब्दुल रसीद जिज्ञासु के रूप में सन् १९२६ के २३ दिसम्बर को गोली मार कर उनके खून से होली खेली और आर्य समाज की शहीदी माला में एक और सुन्दर एवं श्रेष्ठ पुष्प जोड़ दिया। उसकी शहादत रूपी सुगन्धित से हर साल २३ दिसम्बर को देशवासी प्रेरणा प्राप्त करके उनके बताए गए मार्ग पर चलकर उनके अधूरे रहे कार्य को पूरा करें यही उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

वास्तव में २३ दिसम्बर भारत के इतिहास में धर्म और वाणी की स्वतन्त्रता पर पशुता की क्षणिक विजय का वैसा ही स्मरणीय दिवस बन गया है जैसा कि ईसाईयत के इतिहास में महात्मा ईसा के बलिदान का दिवस २५ दिसम्बर। जिस दिन धर्म और वाणी स्वतन्त्रता के लिए उसे लोगों ने शूली पर चढ़ाया था।

संन्यासी श्रद्धानन्द की शहादत पर कवि ने अपनी श्रद्धांजलि देते हुए ठीक ही लिखा है :—

याद आती है हमें, वह तीन गोली की सलामी।
याद आती है हमें, इतिहास है जिसका न सानी॥
तू अमर पथ का पथिक था, है अमर तेरी कहानी।
हो गया बलि देश पर अब, अमिट है तेरी निशानी॥

महान् गुरु विरजानन्द जी

मथुरा के नेत्रहीन सन्त और आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सुप्रसिद्ध गुरु स्वामी विरजानन्द का जन्म जालन्धर के समीप एक करतारपुर स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में सन् १७७८ ई० में हुआ। पांच वर्ष की अल्पायु में ही चेचक के प्रकोप से बालक विरजानन्द नेत्रहीन हो गए। उसके तुरन्त पश्चात् बालक के पिता का, जो स्वयं संस्कृत के विद्वान थे और जिन्होंने बालक को संस्कृत विद्या की दीक्षा दी थी, स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार बालक को बहुत ही छोटी उम्र में अपने ज्येष्ठ भ्राता व भाभी की दया पर निर्भर रहना पड़ा। परन्तु चूंकि उन लोगों का बालक के प्रति बर्ताव ठीक न था, इसलिए मनमौजी, विरजानन्द ने जल्दी ही उनका घर त्याग दिया। घूमते-घूमते वे ऋषिकेश पहुंचे। जहां उन्होंने लगभग तीन बरस तक ध्यान एवं तपश्चर्या का जीवन बिताया। ऐसा कहा जाता है कि किसी दैवी प्रेरणा से स्वामी विरजानन्द ऋषिकेश से हरिद्वार चले आए। हरिद्वार में विरजानन्द का स्वामी पूर्णानन्द से सम्पर्क हुआ जो संस्कृत के सुविख्यात विद्वान् थे और जिन्होंने विरजानन्द को संन्यास की दीक्षा दी। स्वामी पूर्णानन्द की प्रेरणा से विरजानन्द की संस्कृत व्याकरण और आर्य शास्त्रों के प्रति रुचि जागृति हुई। शीघ्र ही विरजानन्द की संस्कृत साहित्य की अन्य विधाओं में पैठ होने लगी तथा उन्होंने अध्यापन कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। हरिद्वार में अध्ययन-अध्यापन का कार्य क्रम समाप्त करके स्वामी विरजानन्द काशी चले गए जो संस्कृत के अध्ययन एवं उच्चतर शिक्षा का मशहूर गढ़ है। यहां उन्होंने लगभग दस वर्ष रहकर मीमांसा, वेदान्त आयुर्वेद आदि में दक्षता प्राप्त की। शीघ्र ही उन्होंने वाराणसी के विद्वानों में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया। वाराणसी से स्वामी विरजानन्द गया चले गए। वहां वे लगभग चार वर्ष तक रहे। गया में उन्होंने उपनिषदों का व्यापक व विवेचनात्मक अध्ययन सम्पन्न किया जिनका प्रारम्भिक

अध्ययन उन्होंने हरिद्वार में किया और वाराणसी में पूरा किया। गया से स्वामी विरजानन्द कलकत्ता चले आए जो कि उस समय देश भर के संस्कृत विद्वानों के लिए एक अ कर्षक केन्द्र बना हुआ था। कलकत्ता में स्वामी जी कई वर्षों तक रहे। और संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य के सर्वोच्च ज्ञान से जन-साधारण को प्रभावित करते रहे। कलकत्ता के भौतिक सुविधाओं के प्राप्त होने पर भी उन्होंने शीघ्र ही उस नगर को त्याग दिया और गंगा के किनारे गड़िया घाट पर जाकर बस गए। यहीं पर तत्कालीन अलवर नरेश की स्वामी जी से भेंट हुई। वे स्वामी जी से बड़े प्रभावित हुए महाराजा के निमन्त्रण पर स्वामी जी अलवर जाने को राजी हो गए और वहां वे कुछ समय तक ठहरे। महाराजा के अनुरोध पर स्वामी जी ने 'शब्द-बोध' की रचना की जिसकी हस्तलिपि अलवर पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित है। अलवर से स्वामी विरजानन्द सोरों गए और वहां से वे भरतपुर और मुरसान होते हुए मथुरा जा पहुंचे।

मथुरा में स्वामी ने एक पाठशाला की स्थापना की। यहीं पर देश भर के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। पाठशाला का खर्च क्षत्रिय राजकुमारों द्वारा दिए गए दान से चलता था और विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। मथुरा में ही स्वामी विरजानन्द की भेंट उनके सुयोग्य शिष्य सुविख्यात दयानन्द सरस्वती से हुई। स्वामी विरजानन्द एक बहुत ही सख्त अध्यापक थे और वे चाहते थे कि उनके विद्यार्थी भी ऊंचे दर्जे के अनुशासनशील और कर्मठ हों। यहां तक कि दयानन्द सरस्वती भी गुरु की इस कठोरता के अपवाद न थे।

जब दयानन्द सरस्वती का अध्ययन काल समाप्त हुआ तो गुरु दक्षिणा के बतौर स्वामी विरजानन्द ने उनसे यह प्रतिज्ञा करने की मांग की कि वे देश में आए साहित्य तथा वेद-ज्ञान का निरन्तर प्रचार करते रहें। स्वामी दयानन्द ने गुरु के समक्ष ऐसी ही प्रतिज्ञा-पालन का व्रत लिया।

स्वामी विरजानन्द ने ९० वर्ष की आयु में कृष्ण त्रयोदशी के दिन सोमवार, १४ नवम्बर, १८६८ को अपना नश्वर शरीर छोड़ा।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय

"हम न बैठेंगे, न बैठने देंगे, न सोएंगे न सोने देंगे।" की गर्जना करने वाले पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का जन्म २८ फरवरी, सन् १८६५ में पंजाब के लुधियाना जिले के जगरांव के पास 'धुरि' गांव में एक साधारण स्थिति के अग्रवाल परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम राधाकृष्ण तथा माता का नाम गुलाब देवी था. श्री राधाकृष्णा एक छोटे से मदरसे में शिक्षक का काम करते थे। वे अरबी, फारसी तथा उर्दू भाषा के अच्छे पण्डित थे। लाला जी की माता गुलाब देवी, अशिक्षित थीं, परन्तु धार्मिक कार्यों में उनकी बड़ी रुचि रहती थी।

लालाजी के जीवन पर पिता की पंडिताई तथा माता की धार्मिकता का गहरा प्रभाव पड़ा। परिवार जनों द्वारा मजबूर किये जाने पर लालाजी का विवाह १३ वर्ष की छोटी उम्र में ही हो गया था। फिर भी उन्होंने अपने अभ्यास में त्रुटि नहीं आने दी।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" किसे पता था कि साधारण शिक्षक का लड़का एक दिन राष्ट्र का लोकप्रिय नेता बनेगा। विद्यार्थी जीवन से ही उनकी प्रतिमा खिलने लगी। उनके प्रभावशाली व्याख्यान होने लगे। आर्य समाज के वार्षिक उत्सवों पर आपको आमन्त्रण मिलने लगे। १८ वर्ष की आयु में आपने अम्बाला आर्य समाज के वार्षिक उत्सव में जो हिन्दी में व्याख्यान दिया वह लालाजी का ऐतिहासिक व्याख्यान बन गया। आपने कहा—

"तुम में से प्रत्येक को कम से कम एक भारतीय भाषा में पूर्ण योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। बेहतर होगा कि यह भाषा 'हिन्दी' हो। हिन्दी के लिए कम से कम एक घण्टा प्रतिदिन देना चाहिए। मैं बल पूर्वक अनुरोध करूंगा कि तुम में से प्रत्येक हिन्दी में दैनन्दिनी (डायरी) रखे।"

सन् १८८५ में २० वर्ष की छोटी आयु में लालाजी नें वकालत

पास कर ली। इसी वर्ष ही राष्ट्रीय महा सभा की स्थापना हुई थी। वकालत पास करने के पश्चात् लालाजी हिसार पहुंचकर वकालत करने लगे। वकालत में आपको खूब आमदनी होने लगी। हिसार में लालाजी ने आर्य समाज मंदिर की स्थापना की, और उसके द्वारा समाज में विविध प्रकार के सेवा कार्य शुरू किए। अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा आप आर्य समाज को दे देते थे। हिसार में कुछ समय कार्य करने के पश्चात् लालाजी को हिसार का क्षेत्र छोटा महसूस होने लगा। वे हिसार से लाहौर पहुंच गए।

कुछ समय पूर्व आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का अजमेर में स्वर्गवास हो गया था। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० तथा महात्मा हंसराजजी ने लाहौर में स्वामी दयानन्द की याद चिर स्थाई रहे इसके लिए एक ऐसी शिक्षण संस्था स्थापित करने का विचार किया, जिसमें प्राचीन आर्य संस्कृति के पवित्र विचारों तथा वर्तमान विज्ञान को लेकर देशभक्त जवानों को तैयार किया जाए, जो आगे चलकर राष्ट्र को हर क्षेत्र की गुलामी से मुक्त करा सकें। ठीक उन्हीं दिनों में लाला लाजपतराय जी भी हिसार से लाहौर पहुंच गए। सोने में सुहागा हो गया। इस त्रिपुटी ने अपने तप, त्याग और बलिदान से लाहौर में 'दयानन्द वैदिक स्कूल' स्थापित किया। आगे चलकर यही स्कूल कालेज बन गया। जो डी० ए० वी० कालेज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दुर्भाग्यवश स्वामीजी का यह महान स्मारक आज हमारे कब्जे में नहीं है।

सन् १८८८ को प्रयाग में कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया। ब्रिटिश सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। वीर योद्धा लाला लाजपतराय प्रतिबन्द की परवाह किए बिना, प्रथम बार कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल हुए। कांग्रेस के प्रसिद्ध इतिहासकार डा० पट्टा भिसीतारमैया ने सन् १८८८ के कांग्रेस अधिवेशन की समीक्षा करते हुए लिखा है—

"निःसन्देह लाजपतराय दूरदर्शी पुरुष थे। जिन दिनों कांग्रेस की समस्त कार्यवाही अंग्रेजी भाषा में होती थी, लाजपतराय ने हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया। उन्होंने यह बतला दिया कि यदि हमें कांग्रेस के मामलों में महत्वपूर्ण भाग लेना है तो, मुझे कांग्रेस को वास्तव में जन-साधारण का प्रतिनिधि बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।"

१९ वीं सदी के अन्त में देश में अकाल पड़ा। लोग भूख के मारे त्राहि-त्राहि पुकार रहे थे। अपने देशवासियों की इस दयनीय स्थिति को देखकर लालाजी का हृदय द्रवीभूत हो उठा। देशवासियों की इस भयंकर हालत को सुधारने के लिए लालाजी ने तन-मन-धन से कोशिश की। विदेशी ईसाई पादरियों ने हिन्दुस्तान के लोगों की इस खतरनाक स्थिति से लाभ उठाने की कोशिश की। अकाल पीड़ितों को अनाज आदि देकर ईसाई दल वनाया जाने लगा। 'भूखा मरता क्या न करता'—मौत की अपेक्षा लोगों ने ईसाई वन जाना अधिक अच्छा समझा। हजारों रामकृष्ण के प्यारे, मजबूरन ईसा के चरणों में शरण लेने लगे। लालाजी ने ईसाई पादरियों की इस अवसरवादिता तथा कुचक्र का तीव्र विरोध किया। विरोध ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया कि सरकार को इस मामले की जांच करवाने के लिए एक कमेटी वनानी पड़ी। इस कमेटी को मानना पड़ा कि—

"ईसाइयों का कार्य उचित नहीं कहा जा सकता। अकाल-पीड़ितों की मजवूरी का इन लोगों ने अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की।"

वनारस में सन् १९०५ में श्री गोपाल कृष्ण गोखले की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, जिसमें विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार का प्रस्ताव पास किया गया। उस प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए लाला जी ने वीर रस.वाणी में घोषणा की—

"यह हमारा अधिकार है, आजादी अंग्रेजों से भीख मांगने की वस्तु नहीं है।"

इसी वर्ष राष्ट्रीय कांग्रेस ने लालाजी तथा श्री गोपाल कृष्ण गोखले को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में हिन्दुस्तान की प्रजा का केस पेश करने के लिए भेजा। उस समय लालाजी ने गर्ज कर कहा—

"मैं यहां ब्रिटिश प्रजा या सरकार से कोई भीख मांगने नहीं आया, क्योंकि मैं जानता हूं कि मेरे देश को भीख मांगने अथवा प्रार्थना करने से कुछ मिलने वाला नहीं है। मैं आया हूं, सिर्फ यह वताने के लिए कि तुम्हारा महान ब्रिटिश साम्राज्य हिन्दुस्तान के साथ किस प्रकार का वर्ताव करके उसे लूट रहा है।" यहां आपकी मुलाकात प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा से हुई। दोनों एक ही गुरु स्वामी दयानन्द के शिष्य थे। प्रथम भेंट में ही आप

दोनों एक दूसरे के हो गए।

इंग्लैण्ड से लालाजी अन्य यूरोपियन देशों का भ्रमण करके स्वदेश लौटे। इस प्रवास ने लालाजी पर बहुत गहरा असर किया। उन्होंने देखा कि अन्य देशों में 'गुलाम भारत' के लिए अच्छी भावना नहीं है। उन्होंने राष्ट्र को आजाद कराने के लिए दृढ़ संकल्प किया।

स्वदेश लौटने पर लालाजी ने देश भर का भ्रमण करके साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार का जोरदार शब्दों में विरोध करना शुरू किया। इसी दरमियान लालाजी को दो अन्य अपने विचारों के सहारथी मिले। उनमें एक थे वीर भूमि महाराष्ट्र के श्री बाल गंगाधर तिलक तथा दूसरे थे बहादुर बंगाल के श्री विपिनचन्द्रपाल। इस त्रिपुटि के मिलने से अंग्रेज सरकार का सिंहासन हिल उठा। सारा राष्ट्र 'लाल-बाल-पाल' की जय-जयकारों से गूंजने लगा। इन्हीं दिनों में पंजाब में किसान आन्दोलन चला। लाला जी इस आन्दोलन के नेता थे। अंग्रेज सरकार से यह सहा नहीं गया। ९ मई १९०७ ई० को १८१८ के प्रसिद्ध 'मंगल रेग्यूलेशन एक्ट' के अधीन लालाजी तथा उनके परमसहयोगी, स्वामी दयानन्द के भक्त, आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता शहीद शिरोमणि सरदार भगतसिंह के चाचा श्री अजीतसिंह को बन्दी बनाकर माण्डले जेल में भेजा गया। आप लोगों पर यह आरोप लगाया गया कि—

"पचास हजार आर्य समाजियों की सेना तैयार करके वे देश में सशस्त्र क्रान्ति करना चाहते थे।"

इस सम्बन्ध में मेरी मिण्टों में 'इण्डिया, मिण्टो एण्ड मार्ग' पुस्तक के पृष्ठ १२५ पर तत्कालीन वाइसराय ने जो लिखा है, वह निम्न प्रकार है—

"वाइसराय ने लिखा है कि यह प्रचार आर्यसमाज की एक गुप्त समिति द्वारा किया जा रहा है। समाज धार्मिक संस्था है, पर पंजाब में उसमें प्रबल राजनीतिक प्रवृति भी है। उनका ख्याल था कि इस आन्दोलन का केन्द्र और नेतृत्व लाजपतराय में निहित है और उसका प्रमुख अनुचर अजीतसिंह है, जो राजद्रोह फैलाता घूमता है।"

स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जिसमें राजभक्ति के आरोप में दो देश-भक्तों को जला वतन किया गया। लालाजी ने अपने प्रसिद्ध "मेरे देश निष्काशन की कहानी—"दि

स्टोरी आफ माई डिपोर्टसन" में अपने जला-वतन की सुन्दर कहा
लिखी है।

अब तक तो खास करके, पंजाब बंगाल तथा महाराष्ट्र के लो
ने अंग्रेज सरकार के नाकों में दम कर रखा था, परन्तु लालाजी त
सरदार अजीतसिंह की गिरफ्तारी सारे देश में रंग लाई। चारों ओ
जुलूस निकाले गए। विरोधी सभाएं रखी गईं। विद्रोह ने भयं
रूप धारण कर लिया। सरकार ने यह महसूस किया कि ह
लालाजी की गिरफ्तारी करके बहुत भारी भूल की। मजबूर हो
कुछ मास पश्चात् नवम्बर में सरकार ने लालाजी को मुक्त
दिया। माण्डले जेल से मुक्त होने पर जब वे लाहौर आए तब प्र
द्वारा उनका भव्य स्वागत किया गया।

उन्हीं दिनों लाहौर नगरपालिका के चुनाव होने वाले
लालाजी ने उसमें भाग लिया। वे कितने लोकप्रिय थे, इसका
हमें इससे लगता है कि उन्हें सूरदास, लंगड़े, वृद्ध लोग भी वोट
आए। यहां तक एक गूंगा, लालाजी की तस्वीर लेकर आया ता
वे अपना वोट लालाजी को दे सके। लालाजी की जीत बहुत अ
वोटों से हुई।

उसके पश्चात् लालाजी ने देश भर का दौरा किया। स्था
स्थान पर लालाजी के ओजस्वी भाषण होने लगे। लालाजी ने
समय एक भाषण में कहा—

अगर कोई ऐसा आदमी है जो अपने देश और जाति की
अपना कर्त्तव्य नहीं समझता तो उससे कह दो कि तुम्हें मनुष्य
शरीर तो मिला है, पर तुम अभी मनुष्य नहीं बन पाए।

सन् १९०८ में लालाजी इंग्लैण्ड गये। वहां उन्होंने वाणी
लेखनी द्वारा अंग्रेजों के सामने, हिन्दुस्तान पर उनके द्वारा
जाने वाले अत्याचारों का भांडा फोड़ा। आपकी प्रभावशाली वा
अंग्रेजों की राजधानी लंदन में हलचल मचा दी। महान् क्रान्ति
स्वामी दयानन्द के परम शिष्य तथा लंदन में इंडिया हाउस
स्थापना करने वाले श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा से आपकी पुनः मु
कात हुई। स्वामी दयानन्द के दोनों दीवानों ने अंग्रेजों के कि
रहकर, उसके विरुद्ध बगावत खड़ी की। जिसमें उसे काफी सफ
मिली। प्रसिद्ध क्रांतिकारी देशभक्त हिन्दू नेता और वीर साव
भी श्यामजी कृष्ण वर्मा की आर्थिक सहायता से वहीं उनके

दर्शन में कार्य कर रहे थे।

सन् १९१० में लालाजी पुनः इंग्लैण्ड गए। अपने सुपुत्र जो बीमार थे, उन्हें लेकर गए। दुर्भाग्यवश उनके पुत्र का स्वर्गवास हो गया। लालाजी को अपने पुत्र के वियोग का कुछ दुःख अवश्य हुआ, परन्तु अपने लक्ष्य की ओर वे कदम बढ़ाते रहे।

सन् १९११ में लालाजी ने एक शिक्षण समिति नियुक्त करके एक ट्रस्ट बनाया गया, और अपने पिता की स्मृति में जगरांव ग्राम में राधाकृष्ण हाई स्कूल की स्थापना की।

सन् १९१३ में लालाजी पुनः युरोप के प्रवास पर निकले। लंदन से वे जापान गए वहां से प्रवास करते हुए अमरीका पहुंचे अमरीका में थे, उस समय प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया। आप स्वदेश लौटना चाहते थे, परन्तु आपको हिन्दुस्तान आने की अनुमति इसलिये नहीं दी गई क्योंकि आपके हिन्दुस्तान आने से ब्रिटिश सरकार को आपसे खतरा प्रतीत हो रहा था। आपको सन् १९१९ तक, अर्थात् पांच वर्ष तक अमरीका में रहना पड़ा। ये पांच वर्ष लालाजी ने अमरीका में बेकार बर्बाद नहीं किए। अपने लेखों और भाषणों से अमरीका में अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान की प्रजा पर किए जा रहे जुल्मों-सितम की दर्द भरी दास्तां रखी। अमरीका की कई पत्र-पत्रिकाए आपको लेख भेजने के लिए आमन्त्रण भेजती थीं। उन लेखों ने आपको जो पारिश्रमिक मिलता उससे आप अपना गुजारा चलाते थे। आपके भाषणों ने अमरीका में भी क्रान्ति की लहर पैदा कर दी।

अमरीका में लाला जी ने एक मुख्य काम किया—'इण्डिया होम रूल लीग' की स्थापना। इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य अमरीका में भारतीय विचारधारा की प्रतिष्ठा को बढ़ाना। आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रचारक डा० केशवदेव शास्त्री तथा डा० हार्डिकर ने इसमें लालाजी को अच्छा सहकार दिया। लाला जी इस लीग के अध्यक्ष बने तथा श्री हार्डिकर मन्त्री। डा० हार्डिकर ने अपने अमरीका के संस्मरण लिखते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"मैं तथा लालाजी एक ही मकान में रहते थे। लोकमान्य तिलक ने हिन्दुस्तान में से श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा पांच हजार डालर लालाजी को भेजे। उस समय लाला जी ने कहा—बेटा, हार्डिकर। विदेशों में प्रचार कार्य की सच्ची कीमत समझने वाले ये एक ही

नेता हैं। लाला जी ने उन रुपयों में से एक पैसा भी अपने लिए नहीं खर्च किया। सब रुपये उन्होंने अमरीका में प्रचार कार्य में खर्च किए। लाला जी के त्याग और कर्त्तव्य-निष्ठा का यह उज्वल प्रमाण है।

लालाजी को अमरीका में आर्थिक संकट का बहुत सामना करना पड़ा। उन्हें लेखों से जो पारिश्रमिक मिलता, उसी से वे अपना गुजारा करते थे। रोटी, अपने हाथ से ही बनाते। अमरीका के पांच वर्ष लाला जी के लिए कांटों की शय्या थे।

सन् १९१९ में जब लाला जी स्वदेश लौटे तब पंजाब की स्थिति पहले जैसी नहीं थी। मृत्यु के पश्चात् कई शहरों में फौजी कायदे का शासन था। जलियां वाला बाग के अमानुषी अत्याचारी कांड से जनता में मातम था। लोगों ने लालाजी को ब्रिटिश साम्राज्यशाहियों द्वारा हिन्दुस्तानियों से किए जाने वाले अत्याचारों की करुण कहानियां सुनाई। लाला जी की आंखें, देशवासियों के दुख दर्द की कहानियां सुनकर लाल हो गईं। उन्होंने मलेच्छ अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से निकालने के लिए आन्दोलन तेज किया।

सन् १९२० में देशवाशियों में लाला जी सेवाओं की कद्र करते हुए कलकत्ते में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन का आपको अध्यक्ष बनाया गया। गांधी जी ने इसी अधिवेशन में असहयोग-आन्दोलन की घोषणा की थी। असहयोग आन्दोलन का मुख्य हेतु था—"अंग्रेज स्कूल तथा कालेजों का वहिष्कार किया जाए।" लाला जी ने लाहौर में नेशनल काले तथा तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स की स्थापना की। जिनका उद्देश्य देशभक्त तैयार करना था। लाला जी ने 'तिलक स्वराज्य कोष' के लिए दस दिनों में नौ लाख रुपये भी इकट्ठे किए।

३ सितम्बर १९२१ को देशद्रोही भाषण में लाला जी को गिरफ्तार किया गया। डेढ़ वर्ष की सजा सुनाई गई। सरकार को परिस्थितियों से विवश होकर मजबूरन लालाजी को शीघ्र बन्दीगृह से मुक्त करना पड़ा।

तारीख ९ नवम्बर, सन १९२१ को लालाजी ने जो अभूतपूर्व कार्य किया था वह था—"सर्वेंट आफ दी पीपुल सोसायटी" (लोक सेवा मण्डल) की स्थापना। इसका उद्घाटन गांधीजी ने किया। इस मण्डल का मुख्य उद्देश्य था निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा

करना। इस मण्डल के सदस्यों को जीवन निर्वाह के लिए बहुत ही थोड़ा खर्च दिया जाता था। इस मण्डल के सदस्यगण अर्थोपार्जन के लिए दूसरा कोई कार्य नहीं कर सकते थे। लाला जी ने इस मण्डल को अपना लाहौर स्थित विशाल मकान तथा सारी सम्पत्ति भेंट कर दी।

इसी वर्ष लालाजी ने देश में जागृति पैदा करने के लिए 'दि पीपुल' 'यंग इंडिया' अंग्रेजी और 'वन्देमातरम्' उर्दू पत्रों की स्थापना की। इन पत्रों ने राष्ट्र को जगाने का महान कार्य किया।

सन् १९२४ में लाला जी ने 'अखिल भारतीय अछूतोद्धार कमेटी की स्थापना की। इस कमेटी द्वारा अछूत समझे जाने वाले देश के पांच करोड़ लोगों को काफी उन्नति की राह पर ले जाने की कोशिश की गई। लालाजी ने स्त्री-शिक्षा, पर्दा-प्रथा उन्मूलन, अनाथ उद्धार, विधवा विवाह, हिन्दी प्रचार जैसे महान कार्य किए हैं, राष्ट्र उसके लिए उनका सदैव ऋणी रहेगा।

सन् १९२७ के नवम्बर में तत्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन ने भारतीय विधान कमीशन की नियुक्त की घोषणा की। यह नियुक्ति गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट १९१९ के अनुसार की गई थी। जिसका आशय यह था कि हर दस वर्ष में भारत की राजनैतिक अवस्था की ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा जांच की जाय। सात सदस्यों वाली इस कमीशन के अध्यक्ष पद पर सर जान साईमन की नियुक्ति की गई। इस कमीशन में भारत का एक भी प्रतिनिधि नहीं लिया गया। यह राष्ट्र का महान अपमान समझा गया। बम्बई में सर तेज बहादुर सप्रु की अध्यक्षता में उद्धारसंघ का अधिवेशन हुआ, जिसमें इस कमीशन का विरोध करने का निश्चय किया गया। इसमें सब दलों का एक मत था। लाला जी ने 'भारतीय धारा सभा' में साईमन कमीशन के विरोध का प्रस्ताव उपस्थित किया। वह प्रस्ताव पास हो गया। प्रान्तीय धारा सभाओं ने भी इसी आशय के प्रस्ताव पास किए।

सन् १९२८ के फरवरी मास में यह कमीशन भारत आया। सारे हिन्दुस्तान में काले झण्डों से उसका स्वागत किया गया। भारत भूमि 'साईमन कमीशन गो बैक' के नारों से गूंज उठी। अंग्रेजों ने मुसलमानों का सहकार लेकर इस आन्दोलन को असफल बनाने की पूरी कोशिश की, परन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

३० अक्तूबर, १९२८ को यह कमीशन लाहौर आने वाला था। लाला लाजपतराय के नेतृत्व में इस कमीशन का काले झण्डों से स्वागत करने का निश्चय किया गया। काले झण्डे बनाने तथा जुलूस निकालने आदि की व्यवस्था स्वामी दयानन्द कालेज के तेजस्वी क्रान्तिकारी युवक शहीद सम्राट सरदार भगतसिंह के घर पर शिरोमणि श्री सुखदेव जी और उनके साथियों ने की। पता लगने पर पुलिस ने सरदार भगतसिंह के घर पर धावा बोला। सुखदेवजी उस समय सरदार भगतसिंह के घर पर ही थे। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार किया। जब लोगों को पता लगा तो वे भीड़ लेकर कोतवाली गए और सुखदेवजी को छुड़ा लाए।

साईमन कमीशन का काले झण्डों से स्वागत करने के लिए हिन्द केसरी लाला लाजपत राय के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस निकाला गया। शान्ति जुलूस को तितर-बितर करने के लिए लाहौर की पुलिस ने मि० सौण्डर्स नामक एक पुलिस अधिकारी के नेतृत्व में जुलूस वालों पर लाठी चार्ज किया। परिणाम स्वरूप लाला लाजपतराय सख्त घायल होकर गिर पड़े। सरदार भगतसिंह तथा सुखदेव ये दोनों आर्य युवक उस समय वहां उपस्थित थे। उन्होंने अपने प्यारे नेता को अपनी आंखों के सामने घायल होते देखा। लालाजी को हास्पीटल में ले जाया गया। लाहौर वासी अपने प्यारे नेता के घायल होने पर क्रोधित हो उठे। हजारों लाहौर वासियों ने हास्पीटल को घेर लिया। वे अपने प्रिय नेता के दर्शन करना चाहते थे। डाक्टरों के मना करने पर भी, लालाजी हास्पीटल से बाहर निकले। लोगों में भारी जोश था। उस समय लाला जी ने जो निम्न शब्द कहे वह भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिख गए हैं। लाला जी ने कहा—

"आज मेरे ऊपर किए गए लाठी प्रहार के लहू की एक-एक बूंद ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कील बनेगी।"

उस समय लोगों में अंग्रेजों के प्रति इतना क्रोध था कि यदि जनता को इशारा कर देते तो पंजाब में अंग्रेजों के खून से धरती लाल हो जाती, परन्तु लाला जी ने इस प्रकार का कदम उठाना उचित नहीं समझा। लाठी चार्ज के १७ दिन पश्चात् तारीख १७ नवम्बर को हिन्द केसरी लाला लाजपत राय इस संसार को सदैव के लिए छोड़कर चले गए, शहीद हो गए। सारे देश में लाला जी

की शहादत पर क्रोध और घृणा का वातावरण पैदा हो गया। देश भर में स्थान-स्थान पर शोक सभाएं होने लगीं। माता वान्ती देवी ने कलकत्ता के मैदान में उपस्थित लाखों लोगों के सामने बोलते हुए देश के नौजवानों को ललकारा—

"लाला जी की चिता की राख ठण्डी होने के पहले ही देश इस महान राष्ट्रीय अपमान का जवाब चाहता है।"

उत्तरप्रदेश के शेर चन्द्रशेखर आजाद को जब लाला जी की हत्या का पता लगा तब वे लाहौर पहुंच गए। आजाद, भगतसिंह, सुखदेव तथा राजगुरु आदि आर्य युवकों ने मिलकर अपने प्यारे नेता की हत्या का बदला लेने का निश्चय किया। ठीक एक मास पश्चात १७ दिसम्बर को पूज्य लाला लाजपतराय के हत्यारे मि० सौण्डर्स को आफिस से निकलकर जैसे वह मोटर साइकिल पर सवार हुए, राजगुरु ने उन पर रिवाल्वर से एक गोली छोड़ी जो सौण्डर्स के गले से पार होकर निकल गई। मि० सौण्डर्स वहीं जमीन पर गिर पड़े। सरदार भगतसिंह ने एक के बाद एक करके सात गोलियां सौण्डर्स पर इसलिए चलाईं ताकि वे जीवित न रह जाएं। भगतसिंह तथा राजगुरु कार्य पूरा समझकर 'दयानन्द कालेज' की तरफ भागे। सौण्डर्स के साथ एक भारतीय चाननसिंह नामक पुलिस इंस्पेक्टर भी था। उन्होंने भगतसिंह और राजगुरु को ललकारा। इतने में पीछे से चन्द्रशेखर आजाद ने उन्हें गोली का निशाना बनाकर यमपुरी पहुंचा दिया। इस प्रकार इन वीरों ने अपने प्यारे नेता लाला लाजपत राय की हत्या का बदला चुका कर मां भारती का मस्तक ऊंचा किया।

लाला जी के बलिदान का समाचार सुनते ही देश भर में शोक की लहर फैल गई। हजारों पंजाबवासी अपनी आंखों में आंसू बहाते हुए लालाजी के अन्तिम दर्शन के लिए उनके निवास स्थान पर इकट्ठे हो गए। जब वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ अर्थी श्मशान को जा रही थी तब लाखों अबला, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, गरीब, अमीर लाहौर वासी आंखों में आंसू लेते हुए और सिर झुकाते हुए अपने प्यारे नेता को श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे थे।

□

दयानन्द का दीवाना धर्मवीर पंडित लेखराम

दयानन्द के एक दीवाने खाना खा रहे थे। इतने में किसी ने आकर उन्हें सूचना दी कि एक हिन्दू व्यक्ति मुसलमान धर्म स्वीकार कर रहा है। लोगों ने उसे खूब समझाया है, परन्तु वह किसी से प्रभावित नहीं हुए। आप यह कार्य कर सकते हैं। अन्यथा आज वह रामकृष्ण का अनुयाई इस्लाम की शरण में चला जाएगा।

दयानन्द के दीवाने सैनिक ने खाना छोड़ दिया। विस्तर लेकर रेलवे स्टेशन पहुंच गए। ट्रेन में सवार हो गए। गाड़ी उस स्टेशन पर नहीं रुकी, क्योंकि वह छोटा स्टेशन था। वहां गाड़ी नहीं रुकती थी। जब गाड़ी स्टेशन से आगे बढ़ गई, तब उस आर्य वीर ने चलती हुई गाड़ी में से विस्तर फेंका और बाद में स्वयं भी चलती हुई ट्रेन में से कूद पड़े। शरीर घायल हो गया! कपड़े फट गए! बुरी हालत में विस्तर उठाकर वह जवान गांव की तरफ बढ़ा। पूछते हुए उस व्यक्ति के घर पहुंचे—जो हिन्दू धर्म का त्याग करके यवन मत स्वीकार करने जा रहा था। उस सज्जन के मिलने पर जब उनसे आर्य वीर युवक ने यह पूछा कि—"आपको वैदिक धर्म में ऐसी कौन सी कमी नजर आई और इस्लाम मत में क्या विशेषता मिली; जिससे प्रभावित होकर आप प्राचीन वैदिक धर्म का परित्याग करके मनुष्य द्वारा स्थापित इस्लाम मत को स्वीकार करने जा रहे हो?" हिन्दू धर्म छोड़ने वाले जवान ने कहा—मैं इसका उत्तर बाद में दूंगा पहले आप मुझे यह बताओ कि आपकी यह बुरी हालत क्यों है? सारे शरीर से खून बह रहा है। चारों ओर चोटें लगी हुई हैं। कपड़े फटे हुए हैं!" दयानन्द के दीवाने ने उत्तर दिया—बन्धुवर! मुझे जब पता लगा कि आप आर्य धर्म का त्याग करके मुसलमान होने जा रहे हैं, तब आप से मिलने की इच्छा तीव्र हो आई। ट्रेन में सवार हुआ

ट्रेन आपके गांव के स्टेशन पर नहीं रुकी। समय हो चला था। कार्य हो जाने पर आना बेकार था। कोई चारा न देख कर चलती हुई ट्रेन में से कूद पड़ा जिसके कारण यह स्थिति बनी है।" वह हिन्दू जवान, दयानन्द के दीवाने के चरणों में झुक गया। और कहने लगा —"जिस धर्म में आप जैसे निःस्वार्थ भावी, औरों के भले के लिए कुर्बानी देने वाले व्यक्ति हैं, वह बलिदानी महान धर्म का मैं कभी त्याग नहीं करूंगा!"

गांव के लोगों को जब यह पता लगा कि—आर्य समाज के एक युवक की कुर्बानी ने वह काम कर दिखाया, जो सारा गांव मिल कर भी नहीं कर पाया था। उस गांव के सब पौरणिकों, जैनियों आदि ने महसूस किया कि यदि हमें अपने धर्म की रक्षा करनी है तो आर्य समाज की स्थापना करनी चाहिए। देखते ही देखते दान की घोषणा होने लगी। जहां एक भी आर्य नहीं था, वहां आर्य समाज मन्दिर बन गया। सारा गांव आर्य समाज की उन्नति में अपनी उन्नति समझने लगा।

दयानन्द का दीवाना आर्य वीर सैनिक और कोई नहीं, धर्मवीर पण्डित लेखराम था। जिनका जन्म ८ चैत्र संम्वत १६१५ विक्रमी शुक्रवार को सय्यदपुर (पंजाब) में हुआ था। ६ वर्ष की आयु में विद्यालय में पढ़ाई के लिए जाने लगे। उर्दू और फारसी की पढ़ाई शुरू की। आप की बुद्धि तीव्र थी, जो एक बार पढ़ लेते अथवा सुन लेते उसे कभी नहीं भूलते थे। अभी १७ वर्ष के ही थे कि उनके चाचा श्री गण्डाराम जी ने उन्हें २१ दिसम्बर १८८५ ई० को पेशावर में पुलिस में भर्ती करा दिया। कार्य कुशल होने के कारण सार्जेंट बन गए। एक सिक्ख सिपाही के सत्संग में आने से उनकी धार्मिक विचारों में आस्था हो गई। प्रातः शीघ्र उठना, स्नान करके प्रभु स्मरण करना गीता का पाठ पढ़ना नित्य का कार्यक्रम बन गया। धार्मिक वेदान्ती ग्रंथ पढ़ने से उनके मन में वैराग्य पैदा हो गया। सब कुछ छोड़छाड़ कर वृन्दावन चले जाने की भावना तीव्र हो गई। २१ वर्ष की अवस्था हो चुकी थी माता विवाह करना चाहती थी। वैराग्य और सांसारिक चक्र के तूफानी विचारों की तरंगे तीव्र थीं। मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के गीता भाष्य आदि ग्रंथों को पढ़ रहे थे। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के नाम का कहीं उल्लेख आया। दयानन्द की उन दिनों देश में बड़ी चर्चा थी। चारों

ओर उनके व्याख्यानों ने धूम मचा रखी थी। प्राचीन वैदिक विचार-धारा प्रवल, अकाटय सिद्धांतों के सामने किसी की दाल नहीं गली। चारों ओर शास्त्रार्थी में दयानन्द की दिग्विजय होने लगी। वेद के त्रैतावाद के सामने अद्वैतवाद टिक न सका। लेखराम वेदान्ती से वेद-वादी वन गए। पेशावर में भाई रंजी की धर्मशाला में आर्य समाज की स्थापना करके उसका कार्य करने लगे।

दयानन्द के दर्शनों की प्रवल इच्छा हुई। एक मास का अव-काश लेकर अजमेर चले गए।

१७ मई को सेठ फतहमल की वाटिका में पहुंचकर ऋषि के दर्शन किए : स्वामी जी ने इनसे यह भी कहा कि—आर्य समाजों की ओर से एक अंग्रेजी मासिक वा समाचारपत्र निकलना चाहिए जिसमें वेद मंत्रों का अनुवाद देने के अतिरिक्त सार्वजनिक लाभ की वातें भी दर्ज हों ऋषि ने इन्हें आदेश दिया कि २५ वर्ष से पहले विवाह न करना। स्वामी दयानन्द के सत्संग ने लेखराम के विचारों को दृढ़ कर दिया और उनका विश्वास वैदिक धर्म पर चट्टान की भांति दृढ़ हो गया।

अजमेर से लौट कर दिन रात इन्हें धर्म प्रचार की धुन रहने लगी। आर्य समाज पेशावर की ओर से उर्दू का मासिक पत्र, "धर्मो पदेश" इन्होंने जारी कराया।

पण्डित लेखराम जी को कहीं से कादियान के मिर्जा गुलाम अहमद की वनाई पुस्तक "बुराहीन अहमदिया" मिल गई। जब पण्डित जी ने इसके चौथे भाग में आर्य समाज पर आक्रमण देखा तो तत्काल उत्तर लिखना शुरू किया और त्याग-पत्र स्वीकृत होने तक "तरकजीव वुराहीन अहमदिया" का प्रथम भाग लिख लिया था।

२४ सितम्बर १८८४ को त्याग-पत्र देकर, मनुष्यों के दासत्व मुक्त होकर लेखराम अब पण्डित लेखराम वन गए। वैदिक धर्म के अनथक सेवक हो गए।

सन् १८८७ में पण्डित जी को "आर्य गजट, फिरोजपुर" का सम्पादक बना दिया गया। पत्र इनके हाथों में आकर चमक उठा। यद्यपि वे जलसों में जाते रहे, परन्तु एक जगह टिक जाने से प्रमाणों को ढूंढने और पुस्तकों को छपवाने में सहायता मिल गई।

ऋषि की मृत्यु को साढ़े चार वर्ष व्यतीत हो चुके थे। जनता उनके जीवन चरित्र की मांग कर रही थी। मुलतान की आर्य समाज

की सम्मत्यनुसार पंजाव प्रतिनिधि सभा ने १ जुलाई १८८८ के अधिवेशन में निश्चय किया कि ऋषि के जीवन वृतका अन्वेषण करने के लिए पण्डित लेखराम को नियुक्त किया जाए। नवम्बर १८८८ में आर्य गजट का सम्पादन छोड़ लेखराम "आर्य मुसाफिर" बने। ऋषि जीवन का अन्वेषण उन्होंने लाहौर से प्रारम्भ किया। धर्म प्रचार साथ-साथ होता रहा। लाहौर से जालन्धर, मथुरा होते अजमेर, मिर्जापुर, काशी होकर दानापुर १७ जनवरी १८९१ को पहुंचे यहां समाज के नाम घर से तार आया कि पण्डित जी जीवित हैं या नहीं? किसी शत्रु ने पण्डित जी के घर पर उनकी मृत्यु की खवर भेज दी। तार का जवाव दे दिया गया। यहां से कलकत्ता होकर कुम्भ पर हरिद्वार पहुंचे। हरिद्वार से लाहौर होकर वैशाख १९४८ में सक्सर के समाज का वार्षिकोत्सव भुगताते हुए हैदरावाद (सिन्ध पहुंचे। इन्हीं दिनों उन्होंने 'क्रिश्चियन मत दर्पण" की तैयारी शुरू कर दी थी तथा "तारीख-ए-दूनिया" तैयार कर लिया था।

२१ मार्च १८९२ को मियानी जिला (शाहपुर) में आर्य समाज की स्थापना करके ऋषि जीवन के अनुसंधान में लेखराम राजपूताने की ओर चल दिए।

वूंदी राज्य में व्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द के शास्त्रार्थ की धूम मची थी। आर्य पुरुषों ने उसकी सहायता के लिए लेखराम को भेजा। किसी ने रिसासत होने के कारण अनिष्ट की आशंका भी प्रकट की परन्तु पण्डित जी वैखौफ सिंह की नाई अकेले वूंदी जा पहुंचे। वहां पता लगा कि महाराज साहव के विशेष शास्त्रार्थ से इन्कार कर दिया।

सन् १८९२ के अक्टूबर, नवम्वर के महीने उन्होंने ऋषि दयानन्द की जन्म भूमि की खोज में विताये।

वैशाख संवत् १९५० में पण्डित लेखराम ३५ वर्ष के हो चुके थे। उसी वर्ष के जेष्ठ मास में छुट्टी लेकर वे घर गए और मरी पर्वत न्तर्गत भन्न ग्राम निवासिनी कुमारी लक्ष्मी देवी के साथ उनका विवाह संस्कार हुआ। पण्डित जी ने अपने इस विवाह में किसी भी प्राचीन कुरीति को स्थान नहीं दिया। विवाह के पश्चात पण्डित जी ने अपनी धर्म पत्नी को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया।

५ अगस्त १८९३ को वीर लेखराम जोधपुर पहुंचे। वहां स्वामी प्रकाशानन्द ने यह समाचार फैला रखा था कि भीमसेन ने मांस

खाने का समर्थन किया है पण्डित लेखराम ने भीमसेन को जा दवाया और कहा—"ईश्वर जानता है, यदि तूने महाराज के पास स्पष्ट जाकर न कहा कि वेद में मांस भक्षण का सर्वथा निषेध है तो तुझे किसी धार्मिक संस्था में पैर रखने के काबिल नहीं छोड़ूंगा। दूसरे दिन पण्डित भीमसेन महाराजा से बिदा लेने गए और बिना पूछे ही स्पष्ट रूप से मांस का निषेध कर दिया।

पण्डित लेखराम १५ मई १८९५ को लाहौर से अपनी धर्मपत्नी को लेकर अपने घर कहूटा पहुंचे। १८ मई के प्रातः उनके घर में पुत्र उत्पन्न हुआ। पण्डित जी ने वैदिक रीति से बच्चे का नामकरण संस्कार किया और सुखदेव नाम रखा। १२ मई को पुनः अपनी यात्रा पर चल दिए। १२ जून १८९५ को इनके छोटे भाई तोताराम का देहान्त हो गया। इसके कुछ दिन पश्चात् पिताजी का भी देहान्त हो गया। परन्तु धर्म प्रचार में व्यग्र लेखराम घर नहीं पहुंच सके। जब इनका पुत्र रोगशय्या पर पड़ा था ये शिमला आर्य समाज के वार्षिकोत्सव को सफल बना रहे थे। वहां से २६ अगस्त को जालन्धर लौटे, सब प्रयत्न किया परन्तु इनका प्यारा पुत्र २८ अगस्त १८९६ को इन्हें छोड़कर परलोक चल दिया। पण्डित जी के चेहरे पर विषाद की कोई रेखा न आने पाई।

एक दिन काला, गंठे हुए बदन का भयानक, नाटा युवक पण्डित लेखराम का पता पूछता-पूछता उनके निवास स्थान पर पहुंचा और निवेदन किया कि वह दो वर्ष पहले हिन्दू था, अब मुसलमान हो चुका है तथा पुनः वैदिक धर्म में दीक्षित होना चाहता है।

६ मार्च शाम को ६ बजे पण्डित जी घर पर अपने खुले बरामदे में चारपाई पर बैठकर जीवन चरित्र सम्बन्धी कुछ काम करने लगे और घातक उनकी बाईं ओर कुर्सी पर बैठ गया। माता जी रसोई में थी उनकी धर्मपत्नी दूसरे कमरे में पढ़ रही थीं पण्डित जी ने घातक को कहा भाई? देर हो गई है, तुम भी आराम करो, परन्तु वह निश्चल बैठा रहा। १० मिनट बाद माता जी ने चौके से आवाज दी—'लेखराम तेल नहीं आया।" पण्डित जी उस समय ऋषि दयानन्द की मृत्यु का अन्तिम दृश्य खींच रहे थे, पत्र वहीं रख दिए और चारपाई से जिधर घातक बैठा था, उधर उतर कर, दोनों बाहुओं को ऊपर उठाकर जोर से अंगड़ाई ली। हत्यारे ने छुरी पेट के अन्दर इस प्रकार घुमा दी कि आठ दस घाव अन्दर आए और

अन्तड़ियां वाहर निकल पड़ीं।

पण्डित जी ने वायें हाथ से अन्तड़ियां संभालीं और दायें हाथ से घातक से लड़ते-भिड़ते सीढ़ी तक जा पहुंचे और उसके हाथ से छुरी छीन ली। इतने में लक्ष्मी देवी बाहर निकल आई और धर्मवीर को घातक के सम्भावित द्वितीय आक्रमण से बचा लिया। यह घातक खुली आंखों से उनके पीछे पुनः दौड़ा कि धर्मवीर की माता जी ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए उस दुष्ट न पास पड़े बेलने को उठाकर उसको भी दो तीन चोटें लगाईं और हाथ छुड़ाकर भाग गया।

धर्मवीर को अस्पताल पहुंचाया गया। छुरी लगने से पोने दो घंटे पश्चात् सिविल डा० पेरी साहव आए और दो घंटे तक कटी हुई आंतों को सीते रहे। उन्हें आश्चर्य था कि इतनी देर तक पुष्कल रक्त निकलने पर भी यह जीवित कैसे हैं? पण्डित इसी बीच में गायत्री मन्त्र तथा विश्वानि देव सवितर्दुरितानिपरासुव। यद् भद्रम् तन्न आसुव मन्त्र का जाप करते रहे।

पण्डित जी १-३० बजे रात तक बराबर सचेत रहे। इस समय न उन्हें घर वालों की चिन्ता थी और न मृत्यु का भय। केवल परमात्मा का चिन्तन और उसके नाम का जप कर रहे थे। आर्य समाज को वे मृत्यु समय भी नहीं भूले। गुरुवर दयानन्द के लगाए धर्मवृक्ष की चिन्ता उन्हें बनी रही अपने सहयोगियों को वे अन्तिम आदेश दे गए कि—"आर्य समाज से लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिए "रात के लगभग दो बजे पण्डित लेखराम, धर्म की वेदी पर शहीद हो गए।

महात्मा आनन्द स्वामी

जीवन में कुछ बनने के लिए गृह का त्याग करके निकल पड़ा। अनेक साधु-सन्तों के पास गया। जंगल-पहाड़, मठ-मन्दिरों में चक्कर काटे, परन्तु सच्ची राह दिखाने वाला नहीं मिला। जिसको मैं अपना रहवर मार्ग-दर्शक, अथवा गुरु कह सकूं।

बड़े-बड़े महामण्डलेश्वर, जगद्गुरु, मठाधीशों ने चाहा कि हम उनके शिष्य बन जाएं, परन्तु उनके जीवन की गहराई में जाने पर उनकी कथनी और करनी में जमीन आसमान का अन्तर नजर आया।

हमें ऐसी ज्योति की आवश्यकता थी, जो स्वयं जलकर राह भटके मानव को प्रकाश दे सकें, जिनका जीवन वास्तविकता के आधार पर ही मन-वचन, कर्म से समानता हो।

"जिन खोजा तिन पाया" परमात्मा की असीम कृपा हुई। एक दिव्य पुरुष जिन्होंने सारा जीवन आर्यसमाज को समर्पित कर रखा था। गृहस्थ जीवन में भी एक सच्चे आर्य प्रचारक का कार्य करते रहे। एक दैनिक पत्र के सम्पादक होते हुए भी दिन रात मानव जाति की सेवा जिनका लक्ष्य था। नाम सुन रखा था वैदिक मर्यादाओं के अनुसार उन्होंने संन्यास ले लिया। अपना नाम रखा—आनन्द स्वामी। संन्यासी बनकर चले गए अज्ञात एकान्त स्थान पर। उन्हें मिलने की इच्छा प्रबल थी। प्रभु कृपा से साक्षात् हुआ। "स्वाध्याय प्रभु भक्ति, नित्य कम से कम एक घन्टा अवश्य किया करो।" तुम्हें अवश्य मंजिल मिलेगी। परमात्मा आपको और भक्ति-शक्ति दे। यह कार्य तो नित्य ४-६ घन्टे चलता था, परन्तु उस दिन से एक अजीव अनुभूति होने लगी। भटकता मन स्थिर होने लगा। स्वाध्याय में आनन्द आने लगा। मैं स्वामी जी का कृपा पात्र बना।

स्वामी दयानन्द की जन्म भूमि टंकारा आश्रम का कई वर्ष अध्यक्ष रहते हुए, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सात वर्ष सचिव उपमंत्री रहते हुए, देश की अनेक संस्थाओं का निकटता से जवाबदार अधिकारी पद पर रह कर करते हुए, हमने अनेक

साधु-सन्तों, संन्यासियों को देखा, परन्तु पूज्यपाद महात्मा आनन्द स्वामी जैसा सच्चा आर्य संन्यासी हमने जीवन में नहीं देखा।

हमने छोटे-छोटे व्यक्तियों को पद, पैसे के लिए हलके से हलके कार्य करते देखा। संस्थाएं बनाकर जीवित अपनी पूजा कराते देखा बैंक बैलैंस बढ़ाते देखा, परन्तु महात्मा आनन्द स्वामी आप धन्य हैं! आपको सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान बनाने के लिए प्रार्थना की गई, परन्तु आपने उसे स्वीकार नहीं किया। तपोवन जैसी अनेक संस्थाओं से भी आप मुक्त रहे। आपने जीते जी कोई संस्था नहीं बनाई। अन्त तक वैदिक धर्म का प्रचार कार्य करते रहे।

स्वामी जी का जन्म १५ अक्टूबर १८८२ में जलालपुर जटा पंजाब में हुआ था। आपका विवाह सन् १९०५ में मेलादेवी के साथ हुआ। सन् १९१२ में लार्डहार्डिंग बमकेस में राजद्रोही घोषित किए गए। सन् १९२१ में मालाबार में मोपला अत्याचारों से पीड़ित हिन्दुओं की सेवा एवं रक्षा की। सन् १९२३ १३ अप्रैल वैशाखी को लाहौर से "मिलाप" का प्रकाशन शुरू किया। गढ़वाल, कश्मीर, बिहार कवैटा के संकट में लोगों की सेवा की। १९३९ में हैदराबाद में निजाम के अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन में भाग लिया। सात मास जेल में रहे। सिंध सत्याग्रह में १९४६ में भाग लिया। १९४७ के विभाजन में लाहौर से दिल्ली आए। १९४९ में सन्यासी बने। सन् १९५५ में केनिया, युगांडा, तांजानिया आदि देशों में वैदिक धर्म का प्रचार करने गए। सन् १९५७ में हिन्दी रक्षा आन्दोलन में भाग लिया। सन् १९६२ में मौरिशश प्रचारार्थ गए। वहां से केनिया, जाजीबार गए। १९६७ में गौ रक्षा आन्दोलन में भाग लिया। सन् १९६८ में आर्य महासम्मेलन हैदराबाद के अध्यक्ष बने। सन् १९७३ में मौरिशश आर्य महासम्मेलन में भाग लिया। सन् १९७५ में आर्य समाज स्थापना शताब्दी समारोह जो दिल्ली में मनाया गया उसके अध्यक्ष बनाए गए। जामामस्जिद दिल्ली के शाही इमाम अब्दुल्ला बुखारी ने मस्जिद से बाहर आकर आपको फूल माला पहनाकर स्वागत किया। सन् १९७७ में २४ अक्टूबर को आर्य समाज के इस महान सन्त ने इस दुनिया से सदा के लिए विदाई ली।

पंडित प्रकाश वीर शास्त्री

स्वर्गीय पं० चन्द्रगुप्त वेदालंकार के पश्चात् अनेक आर्यसमाजी विद्वानों को सुनने का अवसर मिला, परन्तु उन जैसा प्रभावशाली, धारा प्रवाह बोलने वाला व्यक्ति यदि कोई हमने देखा और सुना तो वह पंडित प्रकाशवीर शास्त्री थे। विधि की विचित्र लीला है कि दोनों दिव्य पुरुष छोटी अवस्था में ही हमसे काल के क्रूर पंजे ने छीन लिया! शायद ऐसे नेक दिल तपस्वी त्यागी, मानव-मात्र का कल्याण चाहने वाले, महा मानवों की भगवान के दरबार में आवश्यकता अधिक समझी गई।

अनाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार की विनाशकारी लीला के मध्य में इतनी महान विभूतियों को रखना ईश्वर भी नहीं चाहता! इसलिए तो जगद्‌गुरु शंकराचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर, स्वामी दयानन्द स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ इस दुनिया से शीघ्र उठा लिए गए।

साधारण से किसान परिवार में जन्म लेकर राष्ट्र के महान लोकप्रिय नेता पद पर पहुंचने में उन्होंने जो संघर्षमय जीवन बिताया वह हर साधारण व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है। मनुष्य चाहे तो पुरुषार्थ करके जमीन से उठकर आकाश को छू सकता है। इसकी जीती जागती मिसाल पं प्रकाशवीर शास्त्री की हमारे सामने है।

पं० प्रकाशवीर शास्त्री का जन्म ३० दिसम्बर १९२३ में जिला मुरादाबाद के अन्तर्गत एक ग्राम रहरा में हुआ था उनके पिता श्री दिलीप सिंह जी आर्य समाज के प्रति दृढ़ आस्था रखने वाले महानुभाव थे, इसलिए उन्होंने अपने पुत्र को गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में भेजा। प्रकाशवीर जी ने शास्त्री एवं विद्याभास्कर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० परीक्षा भी संस्कृत विषय लेकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

प्रकाश वीर शास्त्री ने अपने विद्यार्थी काल में ही हैदराबाद के सत्याग्रह संग्राम में भाग लिया। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात

वे आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के उपदेशक बन गए। शास्त्री जी की व्याख्यान शैली अद्भुत थी। सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त आर्य समाज के सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों को वे रोचक शैली में प्रस्तुत करते थे, सारे देश के आर्य समाजों के उत्सवों में उनकी मांग होती थी। आर्य समाज सरदारपुरा जोधपुर के उत्सवों पर वे अनेक वर्षों तक जाते रहे। वहीं उनका विवाह श्री बाल दिवाकर हंस की बहिन श्रीमती यशोदा कुमारी के साथ सम्पन्न हुआ।

सन् १९५७ में जब पंजाब में हिन्दी रक्षा आन्दोलन चलाया गया तो शास्त्री जी अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसमें कूद पड़े। पंडित प्रकाशवीर जी ने निष्ठ और कौशल से हिन्दी सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन किया।

हिन्दी आन्दोलन की समाप्ति के पश्चात् शास्त्री जी ने १९५८ में गुड़गांव से भारतीय लोक सभा के लिए सदस्य निर्वाचित हुए। यह स्थान मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के निधन से रिक्त हुआ था। उन्होंने कांग्रेस के प्रत्याशी पं० मौलिचंद्र को परास्त किया। १९५९ में मथुरा में स्वामी दयानन्द की दीक्षा शताब्दी मनाई गई तो पं० प्रकाशवीर जी शास्त्री ने उस अवसर पर आर्य समाज के दो मूर्धन्य लेखक विद्वानों—पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय एवं पं० गंगा प्रसाद जज के अभिनन्दन की योजना बनाई। तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र बाबू के कर कमलों से विद्वानों को अभिनन्दन पत्र भेंट किया तथा विरजानन्द दण्डी के विद्यालय को स्मारक का रूप दिया दिया गया।

प्रकाशवीर शास्त्री ने आर्य समाज के उपदेशकों के हितों की रक्षा के लिए सदा प्रयत्न किया। उन्होंने आर्य उपदेशक सम्मेलन की योजना बनाई जिसके तत्वावधान में लखनऊ तथा हैदराबाद में सम्मेलन के दो अधिवेशन सम्पन्न हुए। लखनऊ का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री कन्हैयालाल मुंशी ने किया था।

दूसरा कारण स्वामी अभेदानन्द जी इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे। शास्त्री जी ने उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा का नेतृत्व संभाला। वे वर्षों तक इस सभा के प्रधान रहे। उनके कार्यकाल में इस सभा ने अपनी ही एक जयन्ती मनाई, जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू भी उपस्थित हुए। आर्य समाज शताब्दी के अवसर पर शास्त्री जी ने उत्तर प्रदेश सभा के तत्वाधान में मेरठ, कानपुर तथा वारा-

णसी में समरोहों का आयोजन किया जिनकी अध्यक्षता स्वामी सत्य-प्रकाश जी, प० आनन्द स्वामी जी तथा पंडित नरेन्द्र जी ने की इन सम्मेलनों में देश-विदेश के हजारों लोगों ने श्रद्धा से भाग लिया।

लोक सभा के जागरूक सदस्य होने के नाते शास्त्री जी का सार्वजनिक जीवन निरन्तर विकसित होता रहा। उनकी राजनैतिक सूज-बूझ तथा कार्य कौशल से पं० जवाहर लाल नेहरू भी प्रभावित थे। संसद में अलीगढ़ विश्वविद्यालय, गोरक्षा हिन्दी आदि विषयों पर चर्चा उठाकर शास्त्रीजी ने लोक प्रतिनिधियों का ध्यान आकृष्ट किया। १९६२ तथा १९६७ के निर्वाचनों में वे संसद के सदस्य निर्वाचित्त हुए। शास्त्री जी ने अपने संसदीय जीव न में आर्य समाज की गौरव वृद्धि के अनेक कार्य किए।

केन्द्रीय हिन्दी परामर्शदात्री समिति, गृह तथा सूचना एवं प्रसार मन्त्रालयों की हिन्दी सलाहकार समिति तथा लोक सेवा समिति के सदस्य रहें। उन्होंने विभिन्न प्रतिनिधि मण्डलों के सदस्य के रूप में जर्मनी, फ्रांस, ब्रिट्रेन, हालैंड स्विटजरलेंड, नार्वे, स्वीडन, यूनान, तुर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान, थाईलैंड कम्बोडिया, सिंगापुर मलएशिया, ताइवान, इजराइल, हांगकांग, तथा दक्षिण वियतनाम आदि देशों में गए। भारत सरकार की ओर से सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में अफ्रीका मारीशस में भ्रमण हेतु गए। उनके साथ आर्यसमाज के तपस्वी सन्त डा० स्वामी सत्य-प्रकाश जी भी थे।

सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी शास्त्री जी ने आर्य समाज के कार्यों से अपने को कभी अलग नहीं किया। "आपने कश्मीर की वेदी पर गोरक्षा-राष्ट्र रक्षा, धधकता कश्मीर, संध्योपासना आदि पुस्तकें लिखीं।

२२ नवम्बर १९७७ को जयपुर से दिल्ली आते समय रेवाड़ी स्टेशन के पास रेलवे दुर्घटना में पंडित प्रकाशवीर शास्त्री की अकाल मृत्यु हो गई। हमारा प्यारा साथी सदा के लिए चला गया। अनेक आशाएं थीं उनसे। राष्ट्र भाषा हिन्दी के सजग प्रहरी, कश्मीर की समस्या के लिए बेचैन करने वाले, गौ भक्ति की प्रविन भावना, गुरुकुल प्रणाली के प्रतीक, महान देशभक्त, प्रेरणादायक व्यक्तित्व वाले मन-वचन-कर्म से समान पं० प्रकाशवीर शास्त्री जैसा साथी अब मिलना कठिन है।

महात्मा आनन्द भिक्षु

महात्मा आनन्द भिक्षुजी स्वामी दयानन्द सरस्वती के उन महान भक्तों में से एक थे जिन्होंने अपना सारा जीवन ऋषि ऋण चुकाने में बिता दिया। गृहस्थ से वानप्रस्थ तक या यूं कहिए यौवन से मृत्यु पर्यन्त उनके जीवन का एक-एक श्वास वैदिक आर्य मर्यादाओं के प्रचार और प्रसार में बीता। यज्ञ उनके जीवन की खुराक थी। यज्ञ के बिना वे अपने जीवन की तुलना लोहार की उस धौंकनी से करते थे जो सांस तो लेती है पर जिनमें प्राण नहीं होते। यज्ञ हीन जीवन को वे बुझी हुई चिनगारी टिमटिमाते हुए दीपक, बिना ब्रेक की गाड़ी, बिना छत के मकान, बिना कमानी की घड़ी, बे पेंदे का लोटा, शुतर्बेमहार, (बिना लगाम ऊंट) और सूनी बहार कहकर पुकारते थे। इसलिए वे यज्ञ को प्राण कह कर पुकारते थे। जिस प्रकार बिना प्राण के शरीर में आंख, नाक, हाथादि सब इन्द्रियां होती हैं मगर शरीर निस्पन्द पड़ा रहता है, इसी प्रकार यज्ञ हीन जीवन होता है, ऐसी उनकी दृढ़ धारणा थी। वे राजा अश्वपति के आदर्श का प्रत्येक व्याख्यान में बखान करते थे कि भारत वह देश है जहां के राजा डंके की चोट से यह घोषणा करते थे कि उनके राज्य में कोई चोर नहीं कोई जुआरी और शराबी नहीं है, कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो अग्नि होत्र न करता हो। व्यभिचारी पुरुष खोजे से नहीं मिलता तो व्यभिचारयुक्त स्त्री कहां से मिले। वे भारत में अब भी ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे।

महात्मा आनन्द का जन्म पाकिस्तान जिला मुजफ्फर गढ़, तहसील अलीपुर ग्राम योगी वाला में एक जनवरी सन् १८९८ में हुआ था। आपका बचपन का नाम आशानन्द था। इनके पिता सनातन धर्मी थे। परन्तु इनकी रुचि आर्य समाज की ओर थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और संस्कार विधि ने इनके जीवन को मोड़ दिया। उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि आर्य मर्यादाओं के प्रचार और प्रसार में जीवन की

बाजी लगाकर ही दम लूंगा। अपने इस व्रत को उन्होंने मरण पर्यन्त निभाया है हैदराबाद के सत्याग्रह में जत्थे का नेतृत्व करके उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को क्रियान्वित करके साहस का परिचय दिया।

गृहस्थ में भी वे जल में कमल की भांति रहे। लोकोपकार उनके जीवन का अंग था। उनकी दो दुकानें थी काफी भूमि कृषि योग्य थी। तीनों साधनों से धनोपार्जन करके अधिकांश भाग जन-सेवा में व्यय करना उनका नियम था। उनके परिवार में संयुक्त परिवार की मर्यादा का पालन होता था। आपका जन सेवा के कार्यों में मन लगता था। दुकान पर कम ध्यान लगता था। हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के फैसले करते थे। कई बार अपार धन राशि इन्हें फैसलों के दण्ड स्वरूप भुगतनी पड़ी थी।

वर्णाश्रम व्यवस्था को आदर्श समाज व्यवस्था मानने के कारण आपने ४८ वर्ष की अवस्था में स्वामी सर्वदा नन्द जी की दीक्षा पर देश के कोने २ में वैदिक धर्म के प्रचार का संकल्प लिया और १९४५ में तृतीयाश्रम वानप्रस्थ में प्रविष्ट हुए। वानप्रस्थ के समय इनके दो पुत्र जैमिनी जी तथा वलदेवजी विवाहित थे। शेष दो पुत्र महावीर, विश्ववन्धु तथा इकलौती पुत्री सुवीरा अभी बचपन के दौर में से गुजर रहे थे। इनकी धर्म पत्नी का सहयोग आपकी प्रगति का मूल कारण था।

वानप्रस्थ में आपने कठोर साधना की। आप वानप्रस्थ थे परन्तु गुण कर्म स्वभाव से संन्यासी थे। वानप्रस्थ में इनकी वृत्तियां सन्यस्त हो चुकी थीं। इसलिए लोकोपकार की इन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। अतः वे प्रतिमास विधवा, अनाथ, अभावग्रस्त की सहायतार्थ ६००) की राशि व्यय करते थे। यज्ञ पर उनका वही विश्वास था जो एक प्रतिव्रता स्त्री का अपने पति पर, चकोर का चन्द्रमा पर और चातक का घनश्याम प्रदत्त स्वाति की बूंद पर होता है। इसलिए उन्होंने अपने जीवन में यज्ञ की अखण्ड परम्परा बांधने का भरसक प्रयत्न किया। यही कारण था कि ईश्वर ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और निवासपुरी दिल्ली में यज्ञ कराते ही ८ दिसम्बर १९७० को उन्हें दिव्य धाम की प्राप्ति हुई।

पं० रामचन्द्र देहलवी

मुंशी छोटेलाल और रामदेई के घर में सन् १८८१, रामनवमी के दिन देहलवीजी का जन्म मालवा की छावनी नीमच नगर में हुआ। रामनवमी के शुभ दिन जन्म होने के कारण इनका नाम रामचन्द्र रखा गया। इनके पिता अंग्रेज अफसरों को उर्दू-फारसी पढ़ाया करते थे। बड़े तेज मिजाज के थे। धार्मिक विचारों में कट्टरपन नहीं था। देहलवीजी अपने परिवार में पांचवें बच्चे थे। जिनमें से तीन मर चुके थे और सबसे बड़े शिवकरण जीवित रह गये थे। इतने बच्चों के मर जाने से माता बड़ी दुखी रहती थी और अगला बच्चा होकर मर न जाए, इसके लिए अनेक प्रकार के जप-तप करती रहती थी। पिता जहां इतने तेज स्वभाव के थे, माता इसके एकदम विपरीत अत्यन्त कोमल और दयालु प्रकृति की थीं। देहलवी जी के जन्म के पश्चात् दो भाई और हुए जिनके नाम शिवलाल और जियालाल थे। रामचन्द्र अभी ७ वर्ष के ही थे कि माता का देहान्त हो गया। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। सौतेली माता से भी दो बच्चे हुए जिनमें एक छगनलाल अभी तक जीवित हैं। अपने छोटे भाइयों और परिवार का अधिकांश बोझ बालक रामचन्द्र पर ही पड़ा।

रामचन्द्र बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि और तीव्र स्मृतिशक्ति के थे। अजमेर के डी० ए० वी स्कूल से पहली श्रेणी में मिडिल पास करने के बाद पिता ने आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया और दुकान पर अपने साथ काम करने के लिए बाध्य किया। रामचन्द्र आगे पढ़ने को उत्सुक थे। उनके बड़े भाई नीमच के निकट ही किसी रेलवे स्टेशन पर मुलजिम थे। रामचन्द्र दुकान से कुछ पैसे ले घर से भाग कर अपने बड़े भाई के पास चले गए। बड़े भाई ने उनकी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया। इन्दौर कालेज से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा पास की, किन्तु पढ़ाई यहीं समाप्त हो गई।

रामचन्द्र की सौतेली माता का देहान्त तीसरे बच्चे के प्रसव-

काल में हो गया। घर की सब व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। रामचन्द्र का विवाह १८ वर्ष की आयु में ही कर दिया गया। इनकी पत्नी का नाम कमलादेवी था और वह दिल्ली की थी। रामचन्द्र नीमच में ही एक स्कूल में अध्यापक हो गए। फिर वे दिल्ली में ही श्वसुर के पास आ गए और रेली ब्रदर्स नामक कम्पनी में १५ रु० मासिक पर नौकर हो गए। रामचन्द्र प्रारम्भ से ही बहुत कर्मनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण और स्वाभिमानी थे। यहां अफसर से कुछ अनबन हो जाने के कारण इन्होंने नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और अपने श्वसुर के साथ ही दुकान पर बैठ काम करने लगे। सोने के जेवर बनाने का काम था। रामचन्द्र अपने इस धंधे को बड़ी मेहनत और ईमानदारी के साथ करते थे। इनके ५ बच्चे हुए—चार लड़की और एक लड़का, जिनमें केवल तीन लड़कियां ही रह गईं। इनकी धर्मपत्नी का देहान्त एक बच्चे के प्रसव-काल में हो गया। सम्बन्धियों के अत्यन्त आग्रह पर भी इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। घर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। पर रामचन्द्र जी ने अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए भी अपने कर्त्तव्यपालन का मार्ग नहीं छोड़ा।

इन सब विषम परिस्थितियों में भी देहलवीजी ने अपना धार्मिक साहित्य का अध्ययन नहीं छोड़ा। उन दिनों चांदनी चौक में फव्वारे पर दो दिन मुसलमान और दो दिन ईसाइयों की ओर से प्रचार होता था। वहां हिन्दू धर्म पर प्रति दिन बे-सिर-पैर के आक्षेप होते थे। पण्डित जी वहां सुनने जाते। उनका मन इस प्रकार के निराधार आक्षेपों से तिलमिला उठा। उन्होंने साहस करके वहां फव्वारे पर घोषणा कर दी कि सप्ताह में दो दिन वैदिक-धर्म पर व्याख्यान होंगे। अगले दिन से ही उन्होंने यह कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। पण्डित जी प्रतिदिन सदर बाजार में अपना दुकान से ट्राम पर बैठ कर शाम को ठीक समय वहां पहुंच जाते। आधा घंटा भजन गाते और उसके बाद अपना भाषण देते। वे ईसाइयों मुसलमानों के आक्षेपों को प्रतिदिन नोट कर लेते और फिर अपनी बारी आने पर उनका तर्कसंगत उत्तर देते। धीरे-धीरे पण्डित के व्याख्यानों में भीड़ बढ़ती गई और दोनों विपक्षियों की उपस्थिति कम होती गई। अन्ततः मुसलमान-ईसाई दोनों ही वहां से अपना बोरिया-बिस्तर बांध भाग गए। अब अकेले ही पण्डित जी प्रतिदिन व्याख्यान देने लगे। कुछ समय बाद भीड़ इतनी बढ़ गई कि चांदनी चौक के यातायात में विघ्न

पड़ने लगा। तब यह व्याख्यान-सभा वहां से बदल कर गांधी मैदान में होने लगी।

इस व्याख्यान-माला को इतने वर्षों तक जारी रखते हुए पंडित जी को अन्य मजहबों के ग्रंथों को भी पढ़ना पड़ा। पहले एक हाफिज से उन्होंने कुरान पढ़ा। बाइबिल का अध्ययन उन्होंने स्वयं किया। उनके पुस्तकालय में बाइबिल की अनेक प्रतियां विद्यमान थीं। इसी प्रकार बौद्ध और जैन मतों के ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने स्वयं परिश्रम से किया। अब सारे भारत में पंडित रामचन्द्र जी देहलवी के शास्त्रार्थों की धूम मच गई।

आर्यसमाज ने जब हैदराबाद सत्याग्रह प्रारम्भ किया और पंजाब में कैरोंशाही के विरुद्ध हिन्दी-सत्याग्रह शुरू किया, तो पंडित जी ने दोनों में उत्साह के साथ भाग लेते हुए नेतृत्व किया।

कई वर्षों तक निरन्तर प्रचार-यात्राएं और घन्टों भाषण देने इत्यादि से पंडित जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। अपने स्वर्गवास से लगभग ५ वर्ष पूर्व उन्होंने बाहर की यात्राएं बन्द कर दी थीं। एक रिक्शा-दुर्घना के कारण पहले उनकी रीढ़ की हड्डी पर चोट आयी, फिर बायें हाथ में कम्पन शुरू हो गया और बाद में स्नायु दुर्बलता का आक्रमण हो गया। इन दिनों वे दिल्ली न रहकर हापुड़ में ही रहते थे। और अकेले रहते थे। इस अकेलेपन को वे विशेष रूप से अनुभव करते थे। उनके स्वास्थ्य पर इसका भी प्रभाव पड़ा। आर्यसमाज दीवानहाल तथा सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा और ला० रामगोपाल शालवालों की ओर से उनके इलाज की पूरी व्यवस्था की गयी। अक्तूबर १९६७ में पहले दीवान नर्सिंग होम में दो महीने रहे, फिर इरविन अस्पताल में। पर मृत्यु की छाया उनकी ओर तीव्रता से बढ़ रही थी। बेहोशी प्रायः रहती। २ फरवरी १९६८, रात को ९।। बजे उनके प्राण छूट गये। ३ फरवरी प्रातः ११।। बजे दीवानहाल आर्यसमाज से उनकी शव-यात्रा हजारों लोगों की भारी भीड़ के साथ श्मशान-भूमि की ओर चली। दोपहर ठीक डेढ़ बजे शव का अग्निदाह हुआ।

स्वामी दयानन्द का अनन्य भक्त और आर्यसमाज का वर्षों तक अनथक सेवक, अपने प्रयत्न से, ईश्वर-विश्वास और आत्मिक बल से अपने जीवन का निर्माण करने वाला, दिव्य पुरुष हम सबसे सदा के लिए विदा हो गया! □

स्वामी सर्वदानन्द

जन्म शिक्षा और तपोमय जीवन

स्वामी जी का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के बजवाड़ा ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार से हुआ। पौराणिक घर में उत्पन्न होने के कारण आप जन्मतः कट्टर मूर्ति-पूजक थे। एक बार जब मन्दिर में पूजा-पाठ करने गए; तब एक कुत्ते को शिव-मूर्ति का अपमान करते देख इनका मन संशयग्रस्थ हो गया। मूर्ति-पूजा छोड़कर अब नवीन वेदांती हो गए। परिश्रम से संस्कृत का और प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन किया। वैराग्य की भावना प्रबल हो गई। ३२ वर्ष की आयु में ही संन्यासी और नवीन वेदांत के कट्टर अनुयायी हो गए। गृह त्याग कर तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े। समस्त तीर्थों की यात्रा के साथ-साथ योगाभ्यास भी करते रहते थे। कई बार तीन-तीन दिन तक समाधिस्थ रहते। कठोर तपस्या द्वारा आप में भूख-प्यास को दीर्घ समय तक सहन करने की शक्ति आ गई थी।

'सत्यार्थप्रकाश' से जीवन में क्रान्ति

तीर्थ-यात्रा करते हुए स्वामी जी चित्रकूट पर्वत पहुंचे। यहां वे रुग्ण हो गए। उनकी कुटिया के पास ही एक ठाकुर साहब ठहरे हुए थे। वे दृढ़ आर्यसमाजी और सेवा-भावना के थे। उन्होंने स्वामी जी की खूब सेवा-शुश्रूषा की। जब स्वामी जी स्वस्थ हो गए तब अपनी तीर्थ यात्रा जारी रखने के लिए वहां से प्रस्थान करने को उद्यत हुए। उस समय ठाकुर साहब ने कहा, "आपके यहां से प्रस्थान करते समय मैं यह पुस्तक आपको भेंट करता हूं। आप इसे अवश्य ध्यान से पढ़ें।" रेशमी कपड़े में लपेटी वह पुस्तक जब ठाकुर साहब ने भेंट दी तब स्वामी जी ने कहा, "मैं इसे अवश्य पढ़ूंगा।" यात्रा में स्वामी जी ने बड़ी उत्सुकता के साथ उस पुस्तक को खोला। वह था 'सत्यार्थप्रकाश।' स्वामी जी ने उसे आद्योपान्त बड़ी तन्मयता

के साथ पढ़ा । नवीन वेदांत के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के तर्कों से इतने प्रभावित हुए कि जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया । अब उनके हृदय में स्वामी के प्रति अगाध श्रद्धा पैदा हो गई । उन्होंने स्वामी के इस ऋण से मुक्त होने का संकल्प किया । स्वामीजी के हृदय में स्वामी दयानन्द के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी, यह उनकी पुस्तक 'सत्यार्थ दर्शन' की भूमिका में लिखे स्वामीजी के निम्न शब्दों से प्रकट होता है—

"संप्रति यथार्थ वेदार्थ लुप्तप्राय हो चुका था, स्वामी दयानन्द जी महाराज के विचार-सन्निपात से पुनः उसका प्रकाश और नियात्मक नियमों के साथ वेदार्थ को यथार्थ कोटि में लाने के लिए विचार संघर्ष होने लगा । यदि विवाद को छोड़कर प्रेम-प्रीति से सज्जनता की रीति से उचित श्रम साधु परिश्रम के साथ, ऋषि-मुनियों के अनुभव सिद्ध वेदार्थ हस्तगत हो जाएगा तो इससे आर्य जाति का बड़ा ही कल्याण होगा और श्रेय ऋषि को ही होगा ।"

स्वामीजी का साहित्य-सृजन

स्वामीजी ने अपने गहन अध्ययन और अनुभव के आधार पर पांच पुस्तक लिखी हैं जो जिज्ञासु और मोक्षार्थी के लिए ठोस शिक्षाओं से भरपूर हैं । इनके नाम हैं—(१) ईश्वर-भक्ति (२) आनन्द-संग्रह (३) सत्यार्थ-दर्शन (४) कल्याण-मार्ग (५) प्रणव । आर्य साहित्य की ये पांच पुस्तकें अमर निधि हैं ।

देहावसान

निरन्तर प्रचार-यात्राओं के हेतु से स्वामी जी का शरीर कृश, दुर्बल और रोगग्रस्त हो गया । इस स्थिति में भी वे प्रचारयात्राएं करते ही रहे । अन्ततः प्रचारयात्रा में ही आप पर रोग ने आक्रमण कर दिया । स्वामीजी इसीलिए लश्कर में उतरे ताकि इलाज हो सके । यहीं उनका १९३८ में स्वर्गवास हो गया । ऐसे गौरवशील, मूर्धन्य और वीतराग संन्यासी के देहावसान से न केवल आर्यसमाज अपितु समस्त आर्य जाति की अपरिमित क्षति हुई है । स्वामीजी सदृश अहर्निश परार्थ-संलग्न नरश्रेष्ठ की आर्यसमाज में क्षतिपूर्ति होना सम्भव नहीं है ।

पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी

पं० गुरुदत्तविद्यार्थी का जन्म २६ अप्रैल १८६४ को मुलतान में हुआ था। आपके पिता का नाम रामकृष्ण था। लाला रामकृष्ण फारसी के बड़े आलिम थे। आपका बचपन का नाम मूला था। १२ वर्ष की उमर में पण्डितजी अपने पिता के साथ हरिद्वार गए। वहां स्वामी राधेश्याम ने उनका नाम गुरुदत्त रख दिया। आगे चल कर आप गुरुदत्त बने।

गुरुदत्त के पिता स्कूल मास्टर थे। उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा घर में ही दी। ८ वर्ष की उम्र में आप स्कूल में भर्ती हुए। आपने मिडिल परीक्षा झंग से और मैट्रिक्युलेशन परीक्षा मुलतान से पास की। १८८१ में गुरुदत्त का स्कूल जीवन समाप्त हुआ। हिन्दी पढ़ने में आप तेज थे। अध्यापक और इन्स्पेक्टर इस होनहार युवक को देखकर आश्चर्यित होते थे। पढ़ने के साथ शारीरिक व्यायाम का कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु गुरुदत्त जी को विद्यार्थी अवस्था में कसरत का खूब शौक था। धार्मिक जीवन की ओर गुरुदत्त जी की बचपन से ही प्रवृत्ति थी। योग की धुन में हरेक साधु की सेवा करते थे।

मुलतान में एण्ट्रेन्स की परीक्षा की तैयारी के समय गुरुदत्त के हृदय में वेद पढ़ने की धुन पैदा हुई और २० जून १८८० के दिन आप आर्यसमाज के सभासद बने।

सन् १८८१ के जनवरी मास में गुरुदत्त जी लाहौर के गवर्नमेंट कालिज में भर्ती हुए। मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में प्रान्त भर में आपका पांचवां नम्बर आया।

कालिज में जाकर प्रतिभाशील युवक को अपनी कुशाग्रबुद्धि का सिक्का जमाते देर न लगी। कालिज का दूसरा वर्ष समाप्त होने से पूर्व आपका दिमाग पश्चिम के दर्शन और विज्ञान की ओर गया। जान स्टूआर्ट मिल में आपको बहुत भक्ति थी, ब्रैडला की युक्तियां दिमाग में घुसकर विश्वास की जड़ों को हिलाते रहने का यत्न कर रही थीं। डार्विन और वेन का आपने खूब पाठ किया, और बेन्थम

के तत्वज्ञान को पसन्द किया। उस समय योरप का जलवायु हेतुवाद के परमाणुओं से भरपूर हो रहा था। एक ओर से विकासवाद और दूसरी ओर से अनीश्वरवाद के बलवान् आक्रमण विश्वास के किलों की इंट से इंट बजा रहे थे।

१८८२ के आरम्भ में गुरुदत्त ने एक फ्री डिबेटिंग क्लब की स्थापना की, जिसमें गम्भीर विषयों पर बहस हुआ करती थी। गुरुदत्त उसके मंत्री थे, वे प्रायः विवाद में उल्टा पक्ष लिया करते थे कोई धार्मिक या सामाजिक विषय विवाद की सीमा से नहीं छूट सकता था।

पं० गुरुदत्त जी ने अपने दो अन्य मित्रों के साथ मिलकर 'दी रीजनरेटर आफ आर्यावर्त, नाम के अखबार को जारी किया।

१८८३ के अक्तूबर मास में स्वामी दयानन्द की भयानक बीमारी का संवाद देश भर मे फैल गया। भक्तों के हृदय कांप उठे। समाचार फैल गया कि किसी ने जहर देकर ग्रहण लगाने की चेष्टा की है स्वामी उस समय अधिक रोगी होकर अजमेर में आ गए थे। लाहौर की आर्यसमाज की ओर से दो प्रतिनिधि, स्वामी को देखने और सेवा करने के लिए रवाना करने का निश्चय हुआ। एक लाला जीवनदास जी चुने गए दूसरा चुनाव गुरुदत्त जी पर पड़ा।

गुरुदत्त जी ने उसे देखा। देखा तो बहुतों ने, परन्तु जैसा उस जिज्ञासु युवक ने देखा वैसा शायद किसी की दृष्टि में भी न आया। जिज्ञासु ने उस मृत्यु में ब्रह्मचर्य के बल को, योग की महिमा और ईश्वर विश्वास के गौरव को देखा। उसने देखा कि जिसे लोग वियोग कहते हैं वह एक विश्वासी आत्मा के लिए योग है, जिसे साधारण पुरुष सबसे बड़ा दुःख कहते हैं, उसे एक योगी प्रियप्राप्ति का आनन्द समझता है। उसने उस ब्रह्मचारी को मृत्यु के समय आदित्य से अधिक तेजस्वी, पर्वत से अधिक मजबूत और प्रभात से अधिक आनन्दित देखा। पंडित गुरुदत्त एक पिपासु आत्मा बनकर लाहौर से चले थे और सच्चे विश्वासी आस्तिक बन अजमेर से लौटे।

उसी वर्ष गुरुदत्त ने १८८३ के आरम्भ में एम० ए० की परीक्षा देने वालों में सबसे अधिक नम्बर पाए। पंजाब यूनिवर्सिटी के इतिहास में उस समय यह अपनी तरह की पहली और अपूर्व घटना

समझी गई। गुरुदत्त की धाक प्रांत भर में बैठ गई।

अजमेर से दृढ़ आस्तिक बनकर गुरुदत्तजी जब लाहौर में आए तो आर्यपुरुषों में स्वामी की यादगार को स्थापित करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। डी० ए० वी० कालिज की स्थापना का निर्णय लिया गया गुरुदत्त जी ने कॉलेज को अपनी सेवाएं दीं।

किसी एक धुन के सिवा मनुष्य कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। धुन भी इतनी कि दुनिया उसे पागल कहे. उन्हे योग और वेद की धुन थी। जब गुरुदत्त जी स्कूल में पढ़ते थे, तभी से उन्हें शौक था योगी होने का। प्राणायाम का अभ्यास आपने बचपन से ही आरम्भ कर दिया था।

अजमेर में योगी की मृत्यु को देखकर योग सीखने की इच्छा और भी अधिक भड़क उठी। लाहौर पहुंचकर आपने योग दर्शन का स्वाध्याय आरम्भ कर दिया।

गुरुदत्त को दूसरी धुन थी, वेदों का अर्थ समझने की। वेदों पर आपकी असीम श्रद्धा थी। वेदाभ्यास का आप निरन्तर अनुशीलन करते थे। जब अर्थ समझने में कठिनता प्रतीत होने लगी तब अष्टाध्यायी और निरुक्त का अध्ययन आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे अष्टाध्यायी का स्वाध्याय आपके लिए सबसे प्रथम कर्त्तव्य बन गया, क्योंकि आप उसे वेद तक पहुंचने का द्वार समझते थे। आपका शौक उस नौजवान समूह में भी प्रतिबिम्बित होने लगा, जो आपके पास रहा करता था। अष्टाध्यायी, निरुक्त और वेद का स्वाध्याय निरंतर चलता रहा।

डी० ए० वी० कालिज की शिक्षा से असन्तुष्ट होकर कुछ लोगों ने एक दूसरी संस्था चलाने का निश्चय किया।

बहुत-से आर्यपुरुषों को डी० ए० वी० कालिज में आर्यग्रन्थों की पढ़ाई न होने की शिकायत थी।

१८८९ के जुलाई में गुरुदत्त ने 'वैदिक मैगजीन' नाम का मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया। इससे पूर्व आर्यपत्रिका में प्रायः लिखते रहते थे। अंग्रेजी के विद्वानों में आपके लेख पसन्द किए जाते थे। योरप के संस्कृतज्ञ वैदिक साहित्य के विषय में जो असंबन्ध या प्रमाणरहित लेख लिखते थे, पण्डितजी उनका प्रतिवाद निकालते रहते थे। मैगजीन ने तो आपकी धाक ही बांध दी। वैदिक मैगजीन एक मासिक पत्रिका थी परन्तु पाठक उसकी आजकल के

मासिक पत्रों से तुलना न करें। वह एक प्रतिभासम्पन्न विचारक के मास भर के दिमागी व्यायाम का परिणाम होता था। वेदमन्त्रों की उपनिषदों की और अन्य आर्यग्रन्थों की व्याख्या होती थी, और वैदिक सिद्धान्तों पर योग्यतापूर्ण लेख होते थे। जिन दिनों वैदिक मैगजीन लिखी जातीं थी, उन दिनों पण्डित जी कोई समाचार पत्र नहीं पढ़ते थे। रात-दिन स्वाध्याय और विचार में लगे रहते थे। स्वाध्याय के सिवा बस दो ही काम थे। कभी-कभी बाहर उत्सवों पर व्याख्यान के लिए जाना पड़ता था, और लाहौर शंका-समाधान के लिए भी समय देना पड़ता था।

जो बरसात समय से पहले आ जाती है वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है गुरुदत्त जी में प्रतिभा समय से पूर्व ही बरस पड़ी थी १९ वर्ष की अवस्था का विद्यार्थी पंजाब की आर्यसमाज का प्रतिनिधि बनाकर अजमेर भेजा गया था २४ वां वर्ष की अवस्था में एम० ए० को गवर्नमेंट कालिज में साइन्स का बड़ा अध्यापक नियुक्त कर दिया जाता है। कार्य की धुन में शरीर की चिन्ता छोड़ दो। जिस काम में लगे, उसके सिवा सब कुछ भुला दिया।

जवानी में आपका शरीर अच्छा मजबूत था। ईश्वरीय नियमों के उल्लंघन ने उसे शिथिल कर दिया। वैदिक धर्म की धुन ने इस दुनिया को तोड़ डाला। प्रतीत होता है कि गुरु के बिना प्राणायाम के परिश्रम ने भी शरीर पर कुछ बुरा प्रभाव उत्पन्न किया। प्रचार के लिए कई वर्षों तक आपको निरन्तर दौरा लगाना पड़ा। इन सब कारणों से आर्यसमाज की आशाओं के केन्द्र उस होनहार नवयुवक को क्षय रोग ने आ घेरा। १८८९ के मध्य से भक्तों और मित्रों को मालूम हुआ कि आप बीमार हैं। डाक्टरी, युनानी और आयुर्वैदिक सभी तरह के इलाज किए गए, परन्तु रोग बढ़ता ही गया। जब अन्त समय आया, तब आप ने अन्तिम हवन करवाया, और स्वयं वेदमंत्रों का उच्चारण किया। १९ मार्च १८८९ ई० को प्रभात के ७ बजे ईश्वर का स्मरण करते हुए बड़ी शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग किया। गुरुदत्त विद्यार्थी २६ वर्ष की आयु में इस लोक से प्रयाण कर गए। □

पंडित अयोध्या प्रसाद

यों तो संसार में जीना-मरना लगा ही हुआ है, परन्तु समाज उन्हीं के मृत्यु पर शोक करता है, जिनसे देश और जाति का कल्याण हुआ हो। पण्डित अयोध्या प्रसाद, बी० ए०, वैदिक रिसर्चस्कालर इसी कोटि के मनुष्य थे। उनका जन्म, गया जिला (बिहार) के एक कायस्थ परिवार में हुआ था पर वे गुण, कार्य और स्वभाव से ब्राह्मण थे। उनके पिता श्री वंशीधर जी रांची में एक सरकारी कर्मचारी थे और रांची में अपना निवास-स्थान उन्होंने बना लिया था। कहा जाता है कि श्री वंशीधर जी को सारा (Welester Dictonary) कंठाग्र था। मालूम पड़ता है कि अपने पिता से पं० अयोध्या प्रसाद को स्मरण-शक्ति और अध्यवसाय विरासत में मिले थे। उस समय के भद्र समाज और विशेष कायस्थ परिवारों में उर्दू, फारसी की पढ़ाई का रिवाज था। पं० अयोध्या प्रसाद की प्रारंभिक शिक्षा इसी भाषा में हुई थी। बचपन से ही पंडित जी बड़े मेधावी थे।

उनको पढ़ाने का काम एक मौलवी साहब को सौंपा गया।

घर पर उर्दू और फारसी पढ़ अयोध्या प्रसाद जी रांची जिला स्कूल में दाखिल हुए। यहां से वे ऊर्दू,फारसी के साथ एनट्रेन्स (Entranes) परीक्षा पास किया।

जब स्कूल में ही पढ़ते थे, तभी अयोध्या प्रसाद ने मैस्मरिजम, जादूगरी, फोटोग्राफी, बाखूबी तैरना, ऊर्दू और फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। तरह-तरह के लोगों से बातचीत करना, मिलना-जुलना सभा-सोसाइटी में आना-जाना उनके स्वाभाव में था। उन्ही दिनों वे रांची आर्य-समाज के अधिवेशनों में सम्मिलित होने लगे और उनकी रुचि संस्कृत सीखने की हुई, जिसे सीखने लगे। तत्कालीन रांची आर्य-समाज के प्रधान बाबू बालकृष्ण सहाय, वकील के व्यक्तित्व चरित्र, वाकशक्ति, सारगर्भित व्याख्यान और प्रयत्नों से बड़े प्रभावित होते थे। इस तरह उनमें वैदिक धर्म का

बीज बाबू बालकृष्ण सहाय जी के कारण पड़ा जो समय पर विशाल रूप धारण किया। सिकागो के धर्म-सम्मेलन में वैदिक धर्म पर सफल व्याख्यान देने के बाद, उन्होंने एक पत्र में बालकृष्ण सहाय जी प्रति अपनी कृतज्ञता-प्रकाश की थी। उन दिनों रांची आर्य-समाज के तत्त्वाधान में बिहार-बंगाल आर्य-प्रतिनिधि-सभा का साप्ताहिक पत्र 'आर्यावर्त्त' निकलता था। प्रेस आदि को संभालने के लिए पं० होतीलाल एक पंजाबी नवयुवक, रांची आए। अयोध्या प्रसाद और होतीलाल दोस्त बने। बाद में होतीलाल पर बम बनाने के षडयन्त्र का सन्देह हुआ और उनकी धरपकड़ हुई। दोस्ती के कारण पुलिस अयोध्या प्रसाद पर भी शक करने लगी और बहु काल तक खुफिया तौर पर उनका पीछा करती रही।

एन्ट्रेन्स (Entrance) पास करने के बाद, विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्तकरने के लिए पटना गए, जहां उनका सम्पर्क महामहोपाध्याय, साहित्याचार्य, पण्डित रामावतार शर्मा से हुआ। शर्मा जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। उनका विचार अनूठा और तर्क-शक्ति जबरदस्त थी। अयोध्या प्रसाद की मेधावी बुद्धि से शर्मा जी बड़े प्रसन्न थे और उनसे स्नेह करने लगे। दोनों में तर्क खूब होता था। अयोध्या प्रसाद प्रायः 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णित बातों और तर्कों को काम में लेते थे। वर्षा ऋतु थी, पटना की गंगा नदी इस छोर से उस छोर तक प्रायः दो-तीन मील लबालब भरी थी। बात ही बात में अयोध्या प्रसाद अपने साथियों से बाजी लगाए कि वे गंगा के इस पार से उस पार तैर कर तैरते ही लौट आवेंगे। भरी गंगा में वे कूद पड़े और अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। कालिज की पढ़ाई के लिए कुछ समय बाद, वे पटना छोड़ कलकत्ता चले गए।

कलकत्ता में अयोध्या प्रसाद अपने बहुज्ञान, सहृदयता और रोचक बातचीत के कारण विद्यार्थियों और परिचितों में 'चालू सिक्का' बन गए थे। वे ऊर्दू, फारसी की शायरी भी कुछ करते थे। उनका तखल्लुस था 'गनीमत'। बिहार के एक विद्यार्थी का रहन-सहन, तौर-तरीका, शरीर की आकृति बंगालियों की नजर में बेढब, लगती थी। उनकी चुटकी लेना, प्रायः सभी अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। अयोध्या प्रसाद उनके नाम का प्रथम अंश 'फूल' को 'लफ्' में उलट, एक मजाकिया 'लफूनामा' लिखे, जिसके कुछ पद यों थे—

"सर से धर तक वे हैं बराबर, मानिन्द
मुनसपलटी के रोलर !"
एक-एक इन्च की दाढ़ी दोनों रुखसार पर बढ़े हैं
मानिन्द वे मुड़ी की कांठी दिवार पर जड़े हैं।
तालों में ताल नैनीताल है, लफ्फवों में लफ्फू लफू
लाल हैं।

इन्कलाव से दुनिया वदल जाये तव जानें
लफ्ज़ों से मेरा नाम, कट जाए तव जानें !"

पिता की मृत्यु के वाद अयोध्या प्रसाद कलकत्ता छोड़, हजारी बाग पढ़ने चले आए, जहां से उन्होंने सन १९१५ ई० में दर्शनशास्त्र और अरवी, फारसी के साथ, वी० ए० पास किया। अव तक हिन्दी और काम चलाऊ संस्कृत के सहारे वे भारतीय दर्शनों के भी ज्ञान प्राप्त कर लिए थे, जिसके कारण वे अपने अध्यापकों और सहपाठियों की नजरों में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिए थे !

वी० ए० पास करने के वाद अपनी धर्मपत्नी को अपने साथ ले वे पुनः कलकत्ता चले गए। जहां वे शिक्षका का काम कर धनोपार्जन कर वकालत पढ़ने लगे। और कलकत्ता आर्य-समाज में आने जाने और सक्रिय भाग लेने लगे। जिस कमरे में वे रहते थे, उसी के एक कमरे में स्वामी दयानन्द के एक अनुयायी और वैदिक धर्म के विद्वान वयोवृद्ध पण्डित भीमसेन शर्मा रहते थे। उनसे यदा-कदा अयोध्या प्रसाद का वार्तालाप होता था। कालान्तर में वे वकालत पढ़ना छोड़ दिए और आर्य समाज कलकत्ता के पुरोहित वन, वैदिक साहित्य के मनन और वेदों के मन्त्रों के रहस्य के अनुसंधान में जुट गए। इस काम में इन्हें अंग्रेजी, अरवी, फारसी भाषा के ज्ञान से वड़ी सहायता मिली। आर्य समाज कलकत्ता के अधिवेशनों में वे वेद मन्त्रों की व्याख्या वड़े रोचक और ज्ञानपूर्ण भाषा में किया करते थे, जिससे श्रोता वड़े प्रभावित होते थे। कलकत्ता आर्यसमाज की उन्होंने वड़ी सेवा की। इस समय तक उनकी ख्याति सारे आर्य जगत में हो गई थी।

शायद ही किसी उपदेशक के पास पण्डित जी के पुस्तक भंडार के ऐसा पुस्तकों का संगह हो। प्रायः सभी भाषा, सभी विचार और धर्मों (मतों) के पुस्तक उन्होंने निजी व्यय से संग्रह किया था और प्रत्येक पुस्तक की बातों की जानकारी उन्हें थी। अपने अमूल्य और

स्वा० द०—९

अलभ्य पुस्तक भण्डार को हमारे विशेष आग्रह पर स्वामी दयानन्द के जन्म स्थान टंकारा के दयानन्द स्मारक ट्रष्ट को उन्होंने अपने जीवन के शेष भाग में सात्विक दान कर दिया था। उनके अनुपम पुस्तकालय में प्राय: २५००० से ऊपर पुस्तकें थी, जिनका आनुमानिक मूल्य तीन लाख से ऊपर हैं। इन पुस्तकों को कलकत्ता से टंकारा ले जाने में लगभग २५०० रु० लगे थे और इनको सुरक्षित रखने के लिए ३०० से ऊपर स्टील (लोहा)की अलमारियों के लिए ट्रष्ट ने अपील निकाली थी :

पण्डित अयोध्या प्रसाद जी की प्रेरणा से कलकत्ता और इसके आस-पास कई आर्य-समाज स्थापित हुए। पण्डित जी समय-समय पर इन समाजों में प्रवचन और व्याख्यान देते थे। उनके हृदय में वैदिक धर्म का व्यापक रूप था और देश में स्वदेशी राज्य वे देखना चाहते थे। जब देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन जोरों पर था, पण्डित जी ने उस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिए और जेल गए।

पण्डित जी अपने भाषणों और प्रवचनों में श्रोताओं में बाह्य-शक्ति का अनुमान लगा, उपयुक्त तर्क और दृष्टांत दिया करते थे। उनका अध्ययन-मनन और जानकारी विस्तृत थी। वे कहा करते थे कि जिस 'सत्यनारायण' की कथा को पौराणिक पण्डित बांचा करते हैं, वह स्कन्द पुराण के न रेवा खण्ड में न सारे पुराण में कहीं भी है। संसार का प्रथम ज्योतिषी लंकापति रावण की पत्नी मन्दोदरी के पितामह थे, जो रोम देश के निवासी थे। बीजगणित भारत की देन (Algebra) है। यह गलत धारणा है कि इस विद्या का आरम्भ अरब देश से हुआ है। वेद मन्त्रों में गणित विद्या का आरम्भ अरब देश से हुआ है। वेद मंत्रों में गणित विद्या का ज्ञान भरा पड़ा है। वैदिक मन्त्रों के आधार पर पण्डित जी बड़ा-बड़ा जोड़ घटाव, गुणा इत्यादि का सही उत्तर मौखिक ही, कुछ पलों में ही, बता देते थे।

पण्डित अयोध्या प्रसाद सारे भारत में घूम-घूमकर एक त्यागी और गृहस्थ ब्राह्मण के रूप में वैदिक-धर्म का प्रचार करते रहते थे और अपने कथनों की अमिट छाप लोगों पर लगा देते थे। कंचन के फेर में वे कभी नहीं पड़े। उनकी बातें सुनने को लोग लालायित रहते थे। प्राय: सभी भिन्न-भिन्न मतावलम्बी उनकी विद्वता, स्पष्टता, तर्क, सभाचातुरी और योग्यता के कायल थे। सभी प्रचलित मतों के वे अच्छे ज्ञाता थे, कुरान-बाइबिल, बौद्ध, जैन-धर्म की

पुस्तकें तथा गुरु ग्रन्थ साहब की अनेकानेक पंक्तियां उन्हें स्मरण थीं।

अमेरिका के शिकागो नगर में सन् १९३३ के अगस्त मास में विश्व-धर्म सम्मेलन होने वाला था। सम्मेलन में आर्य-समाज का प्रतिनिधि बनकर कौन जाय.यह प्रश्न उठा। सार्वदेशिक-सभा ने श्री आचार्य रामदेव जी और प्रिंसिपल बालकृष्ण जी को अपना प्रतिनिधि ठीक किया और धन के लिए अपील की। पण्डित अयोध्या प्रसाद अपने बल पर शिकागो जाना चाहते थे। उनके लिए अमेरिका के लिए पास पोर्ट (Pass port) मिलना कठिन सवाल था, क्योंकि सन १९०८ से ही वे विदेशी सरकार की आंख पर चढ़े हुए थे। पासपोर्ट के लिए, दरखास्त के साथ एक वैतनिक मजिस्ट्रेट की सिफारिश आवश्यक थी। विदेशी सरकार का दबदबा ऐसा था कि पण्डित जी के कई परिचितऔर श्रद्धालु मजिस्ट्रेट भी खुलकर सिफारिश करने में संकोच करते थे। इस परिस्थिति में पण्डित जी रांची आए और अपनी कठिनाई उन्होंने बताई। विचार-विमर्श के बाद निश्चय हुआ कि रांची के डिप्टी कमिश्नर के पास पासपोर्ट के लिए दरखास्त दिया जाय। आर्य-समाज, रांची के तत्कालीन प्रधान श्री श्याम कृष्ण सहाय जी, बैरिस्टर, रांची के सब-डिवीजनल आफीसर (Sub-Divisional officer) और अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर से मिले। सब-डिवीजनल आफिसर और पंडित जी पटना कॉलिज के सहपाठी थे। पासपोर्ट के लिए उन्होंने अच्छी सिफारिश कर दी और बैरिस्टर साहब की कोशिश से पंडित जी को कालन्तर में पासपोर्ट मिल गया। इस पासपोर्ट के लिए पण्डित जी बड़े चिन्तित थे, जिसके मिलने पर, बड़े प्रसन्न हो, बोले, "आखिर चावल ही पथ्य के काम में आता है और यह पुराना चावल मेरा प्यारा रांची आर्य समाज है।" पण्डित जी ने अमेरिका प्रस्थान के लिए सब तैयारी कर ली। आचार्य रामदेव जी और प्रिंसपल बालकृष्ण किसी कारण से अमेरिका न जा सके। सार्वदेशिक सभा ने पण्डित जी का नाम आर्य समाजों के प्रतिनिधि रूप में नामजद कर दिया। पण्डित अयोध्या प्रसाद आर्य समाज के एक मात्र प्रतिनिधि बन, अपनी वृद्धा माता, धर्मपत्नी, अपनी अबोध बच्ची और पोषपुत्री को कलकत्ता में छोड़ अमेरिका के लिए प्रस्थान किए। बम्बई से जहाज पर चढ़ते-चढ़ते और जहां से भी उन्हें मौका मिलता था, मेरे पास पत्र भेजते रहे।

थे। मैं उन पत्रों को 'आर्यमित्र' में प्रकाशनार्थ भेज देता था।

शिकागो-सम्मेलन के प्रारंभिक अधिवेशन में पण्डित जी की वैदिक प्रार्थना और संदेश सुन अमेरिका के नर-नारी आश्चर्य-चकित हो गए थे। ऐसा उदात्त, ऐसा सारगर्भित और व्यापक प्रार्थना-संदेश उन लोगों ने अपने जीवन में कभी नहीं सुना था। अपने पत्र में इस सफलता का श्रेय, पण्डित ने, रांची आर्य-समाज और इसके संस्थापक श्रीमान वालकृष्ण सहाय जी को दिया था। उनके भाषणों, व्यक्तिगत आलापों और विचार-विनिमय से अमेरिकी जनता आर्य-समाज के विषय में अधिकाधिक जानने के लिए उत्सुक रहती थी। भारतवर्ष में जातीय शिक्षा (National Education) के बारे में पण्डित जी ने ऋषि दयानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों और गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को अमेरिकी जनता के सामने रखा था, जिससे वे प्रभावित हुए थे। पण्डित जी की प्रेरणा से सभा का आरम्भ वेद मन्त्रों द्वारा और समाप्ति शान्ति पाठ द्वारा होता था। वक्ताओं को सत्कार 'नमस्ते' से होता था, जिसका अर्थ उन्होंने बताया था ' मैं अपने हृदय से, अपने मस्तिष्क से और अपने बाहुबल से आपकी अन्तरात्मा के प्रति सम्मान प्रकाशित करता हूं। अनेक स्थानों पर, अनेक संस्थानों में उनका व्याख्यान हुआ था। उनके व्यक्तित्व, पांडित्य और प्रचार शैली के कारण विश्वधर्म-सम्मेलन के सभापति मिस्टर चार्ल्स, फ्रेडरिक ने सार्वदेशिक सभा को पत्र द्वारा साग्रह निवेदन किया था कि पण्डित जी को कुछ अधिक समय के लिए अमेरिका में ठहरने दिया जाय।

तीन वर्षों तक अमेरिका में रह कर पण्डितजी ने बड़े लगन और सफलता के साथ बौद्धिक धर्म का प्रचार किया। उत्तरी अमेरिका से दक्षिणी अमेरिका प्रचारार्थ जाते हुए वेस्ट इन्डीज (West Indies) द्वीप पुन्जों में आये भारतवासी बसे हुए हैं। उन द्वीपों में वे अनेक आर्य-समाज स्थापित किए और कई आर्य-समाज मन्दिर वहीं के लोगों के दान से निर्माण कराए। ७८ वर्ष की आयुमें अपनी एकमात्र सन्तान अपनी सुपुत्री को और आर्य जनता को विलखता छोड़, कलकत्ता में ११ मार्च १९६५ ई०, वृहस्पतिवार को संसार से विदा हो गए।

स्वामी दर्शनानन्द

प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सर्व प्रथम उद्घोषक थे— स्वामी दयानन्द। इस उद्घोषणा को साकार रूप देने वाले सर्वप्रथम कोई व्यक्ति थे तो वह स्वामी दर्शनानन्द ही थें। आपका जन्म पंजाब प्रान्त में लुधियाना के जगरावों ग्राम में सम्वत् १९१८ माघ कृष्ण दशमी को श्री राम प्रताप सरस्वती के गृह में हुआ था। आपके जन्म का नाम कृपाराम था १६ वर्ष की आयु में आपको पाठ पढ़ने के लिए भेजा गया। जहां आपको संस्कृत और फारसी पढ़ाई जाने लगी, आपकी स्मरण शक्ति अद्भुत थी। छोटी उम्र में ही आपने "अमर कोष ' सिद्धांत कौमुदी" आदि ग्रंथों को रट डाला। ग्यारह वर्ष की आयु में आपकी वेरोवाल जिले के अमृतसर गांव के पण्डित सुन्दर लाल की पुत्री पार्वती देवी से सम्वत्-१९२० में विवाह करा दिया गया। मिडिल पास करने पर आपको पिता ने दुकान पर बिठाया। आपका मन दुकानदारी में नहीं लगता था। वैराग्य वृत्ति विशेष थी। एक दिन अवसर पाकर घर से चल दिए और संन्यासी बन गए। पिता अपने पुत्र की खोज में थे। एक दिन एक दीनागर में एक पादरी से सिद्धांत पर गरमा गरम चर्चा कर रहे थे कि उनके चाचा श्री जयराम शर्मा ने उन्हें देख लिया। आपको पकड़कर घर लाया गया। पर इस शर्त पर आपने घर आना स्वीकार किया कि—१-भगवे वस्त्र नहीं उतारूंगा। २-घर में न जाकर बैठक में रहूंगा। ३-स्वामी दयानन्द लिखित सब पुस्तकें मंगवाकर देनी होंगी। परिवार वालों ने आपकी तीनों शर्तें स्वीकार कर लीं। आपने अपनी बैठक में एक संस्कृत पाठशाला खोली।

घर पर आपका मन न लगा। सम्वत १९४५ में एक दिन रात को घर का त्याग करके काशीपुर में एक प्रेस खरीद कर तिमिर-नाशक प्रकाशन संस्था खोली। और 'तिमिरनाशक" साप्ताहिक पत्र भी शुरू किया। सन् १८९७ में मुरादाबाद में वैदिक धर्म पत्रिका शुरू की। दिल्ली चावड़ी बाजार में भी आपने एक प्रेस आर्य

साहित्य प्रकाशनार्थ स्थापित की। रावलपिण्डी में भी आपने प्रेस स्थापित करके एक पत्र का प्रकाशन किया।

सन् १६०१ में वसन्त पंचमी पर आपने राजघाट पर स्वामी अनुभवानन्द जी से संन्यास की दीक्षा ली। और दर्शनों से विशेष प्रेम होने के नाते अपना नाम दर्शनानन्द रखवाया।

आपने अपने जीवन में असंख्य शास्त्रार्थ किए, जिनमें काशी में पौराणिक पण्डित शिवकुमार शास्त्री से दिल्ली में पण्डित राम चन्द्र वेतान्ती से, देवरिया में मौलवियों से जग प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली, जिसे स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रंथों में प्रतिपादन किया था, जो गुरुकुल खोलकर साकार रूप देने में जितना पुरुषार्थ आपने किया, उतना उस युग में किसी ने नहीं किया। आपने सर्वप्रथम गुरुकुल १८६८ में सिकन्दराबाद में स्थापित किया। उसके पश्चात बदायूं, विरालसी,ज्वालापुर पीठीहार आदि के दाम उल्लेखनीय हैं। इन सब गुरुकुलों में ज्वालापुर महाविद्यालय जो हरिद्वार के समीप गंगा के किनारे स्थापित है।अपनी विशेषताओं के कारण देश प्रसिद्ध है। इस गुरुकुल ने राष्ट्र को तेजस्वी विद्वान नेता दिए हैं। जो राष्ट्र के हर क्षेत्र में प्रशांसनीय कार्य कर रहे हैं।

भारत को प्राचीन गौरव प्राप्त हो, इसके लिए गुरुकुल खोल कर तेजस्वी युवक राष्ट्र को दिए। दूसरी अपने धर्म तथा जाति पर यवनों ईसाईयों, तथा पौराणिकों द्वारा हो रहे हमलों से बचाने के लिए शास्त्रार्थ का शस्त्र लेकर उनका मूलोच्छेदन किया। तीसरी तरफ अनेक ग्रंथों की आंधी को रोकने के लिए प्रेस स्थापित करके सस्ते में आर्य ग्रंथों को छपवाकर ज्ञान की गंगा बहा दी। चार आने में "सत्यार्थ प्रकाश" जैसा महान् वृहद ग्रंथ लोगों को देना, यह अद्भुत कार्य दर्शनानन्द का ही था। साहित्य सर्जन की आपकी जैसी धुन थी कि कुछ दिन को जैसा संकल्प किया कि—नित्य एक टैक्ट लिखूंगा। जब तक न लिख सकूं भोजन न करूंगा। इस भीष्म संकल्प ने विविध गम्भीर, सैद्धांतिक विषयों पर सैकड़ों टैक्ट आर्य जगत को दिए। जो आर्य साहित्य में विशेष ध्यान रखते हैं। दर्शनों तथा उपनिषदों पर आपका पूर्ण अधिकार था। इनके हिन्दी भाष्य जो आपने किए हैं वे बेजोड़ हैं।

सतत् प्रचार में लगे रहना, संस्थाओं के संचालन की जवाब

दारी, साहित्य सर्जन के महान कार्य, इन सब प्रवृत्तियों ने आपका आराम हराम कर दिया। आपने वैदिक धर्म तथा स्वामी दयानन्द की विचार धारा का प्रचार करने में अपने शरीर की बिल्कुल परवाह नहीं की। रात दिन कार्य में लगे रहे, जिसका परिणाम यह निकला कि आपका 'स्वास्थ खराब हो गया।

आपने रात दिन औषधी ली, जिससे आपको आराम हो गया। आठवें दिन फिर औषधी लेना बन्द कर दिया। जिससे रोग पुनः बढ़ गया। पण्डित मुराली लाल को जब पता लगा, तब वे स्वामी जी को गुरुकुल सिकन्दराबाद ले गए। हाथरस के डाक्टर कृष्ण प्रसाद ने स्वामी जी की विशेष चिकित्सा के लिए उन्हें हाथरस अपने यहां ले आए उन्हीं दिनों हाथरस का वार्षिक उत्सव था, डाक्टरों के मना करने पर भी आपने अपने भक्तों को उत्सव पंडाल में बोलने के लिए ले चलने का आग्रह किया। तारीख ७ अप्रैल १९१३ की रात्रि को उत्सव में प्रवचन देकर आप लौटे ही थे कि हालत खराब हो गई। ६ घंटे पश्चात आप इस दुनिया को सदा के लिए अलविदा करके चले गए। दयानन्द का दीवाना सिपाही चल बसा।

तपोमूर्ति-महात्मा हंसराज

एक और हिन्दुओं की आपसी-कलह और दुरावस्था; दूसरी ओर विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता का शासन के आश्रय घोर आक्रमण—हिन्दू समाज एक महान् विपदा में उलझ गया। अपने उपकारक दयानन्द को लोगों ने मौत की नींद सुला दिया। एक केवट मिला था डगमगाती नैया को, नैया के सवारों ने उसे नदी में धकेल दिया। तब झुंझला के उन्होंने देखा, नदी में सागर की लहरें नैया को खा जाने के लिए बढ़ रही हैं। आंतक फैल गया। घबराहट अकुलाने लगी। निराशा उभरने लगी। चिन्तित जाति सोचने लगी, "अब क्या होगा!" तब, दयानन्द की जोत प्रकाश पा एक युवक ने इस निराशा को चीर नैया की पतवार थामने का निश्चय किया। इस निश्चय की पूर्ति में उसे अपना जीवन बलिदान कर देना पड़ा। जिसका नाम था महात्मा हंसराज।

महात्मा हंसराज चाहते तो अन्य सांसारिक लोगों की तरह उच्च से उच्चपद प्राप्त कर लाखों की सम्पत्ति जुटा लेते। लेकिन जाति की दुरावस्था ने उन्हें बलिदान के इस मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने झांका कि हिन्दू युवक अपने सनातन वैदिक धर्म से अपरिचित होने के कारण ईसाईयों की और मुसलमानों के तीव्र प्रचार और ईसाई-संस्थाओं की आर्थिक-सहायता से अपने धर्म पतित हो रहे हैं। उन्होंने बढ़ता हुआ एक तूफान देखा और रुक न सके। कूद पड़े। सारी आयु निर्धनता, तपस्या और त्याग में बिताते हुए संसार के कल्याण के लिए धर्म, देश और जाति की सेवा का प्रण लिया। होश सम्भालने से लेकर अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्होंने हर श्वांस के साथ देश से अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न किया। हिन्दू समाज को सुधारने और दुखी, भूकम्प, अकाल, दुर्भिक्ष,महामारी पीड़ितों की सेवा-सहायता करने को वह सदा तत्पर रहे। जीवन के ७४ वर्षों में से ५८वर्ष उन्होंने परोपकार में ही बिताए दयानन्द कालिज को सफल बनाने के लिए उन्होंने १८८५ में अपना जीवन अर्पण किया और एक कौड़ी लिए बिना शीत ग्रीष्म, बीमारी दुख, गरीबी, कष्ट, विरोध की तनिक भी अपेक्षा किए बिना उन्होंने

मृत्यु पर्यन्त अपना प्रण निभाया। उनकी निस्वार्थ सेवाओं और निष्काम प्रयत्नों से उन्हें दूर क्षेत्र में पूर्ण सफलता मिली। स्वभावतः कई लोग इस सफलता को सह नहीं सके, ईर्ष्या की आग में जलने लगे। इस आग की लपटें महात्मा जी तक भी पहुंची, परन्तु वह शीतल स्वभाव और पूर्ण दृढ़ता से अपने पथ पर अग्रसर रहे। उनके विरुद्ध कई षडयन्त्र रचे गए, बीसियों लेख लिखे गए। झूठे दोष आरोपित किए गए, परन्तु वह अपने निश्चय पर स्थिर रहे। इस बीच उन्हें कई प्रलोभन दिए गए, देश के नेतृत्व का स्वर्णजाल फैलाया गया। प्रबल राजनैतिक आन्दोलन के समय उन्हें कहा गया कि यदि आप इसमें शामिल हो जायेंगे तो सारे देश के नेता बन जायेंगे। तब महात्मा जी ने केवल इतना ही कहा, "मैं नींव में पड़ने वाला पत्थर हूं रचनात्मक कार्य में लगा हूं और इसी में लगा रहूंगा।"

उनका सारा जीवन तप और त्याग का जीवन है। धन दौलत, सुख-सपदा, भोग-ऐवश्यं सब त्याग दिया। गरीबी को निमन्त्रण दिया। भाई द्वारा प्राप्त केवल चालीस रुपये मासिक पर गुजारा करते रहे। स्व-प्राप्त गरीबी में दुख के दिन काटना सबसे कठोर तपस्या है। यक्ष के पूछने पर कि "तप क्या है?" युधिष्ठिर ने कहा था, "तप; स्वधर्म वर्त्तिस्व।" अपने कर्त्तव्य को करते रहना ही तप है।" दुख-सुख, रोग-अरोग, मान अपमान, प्रसन्नता-असन्नता की की अपेक्षा किए बिना जो कर्त्तव्य अपने कंधे लिया, उसे निभाते जाना सच्चा तप है। महात्माजी ने एक भाषण में कहा था, "मनुष्य जीवन का एक ध्येय होना चाहिए, एक केन्द्र जहां पहुंचकर वह अपना जीवन कुर्बान कर सके। अपने धन दौलत और बाल-बच्चों को सुविधा से छोड़ सके। एक स्थान होना चाहिए, जहां पहुंचकर गर्व के साथ कह सके कि किचाहे प्राण चले जायें, चाहे सब ओर नाश-विनाश नाचने लगे तो भी वह लौटेगा नहीं, पीछे हटेगा नहीं, ऐसे स्थान पर ही मनुष्य का वास्तविक चरित्र और उसका असल मोल मालूम होता है।" यह शब्द महात्मा जी के ही मुख से शोभा देते हैं, जिन्होंने जीवन का एक ध्येय मानकर उम्र भर तपना मंजूर किया।

त्याग की साक्षात मूर्ति सरलता एवं सादगी का सजीव चित्र, निराभिमानता के आदर्श हंसराज का जीवन अनुकरणीय है। रहने का एक छोटा-सा कमरा, लकड़ी का एक तख्तापोश, दो टूटी हुई कुर्सियां, और बस कपड़े मोठे-झोटे शुद्ध स्वदेशी,

जूता हशियारपुर का। सीधा-सादा पाजामा, वन्द गले का कोट, ऊबड़-खाबड़ सी पगड़ी—यह उनका वेश था। उन्नत विशाल मस्तक, श्वेत वर्ण, लम्बे चेहरे पर भव्य दाढ़ी, ऐसे लगता था मानो कोई प्राचीन काल का देवता हो। वातचीत में केवल माधुर्य ही नहीं आर्थिकता भी थी नपेतुले शब्द, एक अक्षर भी व्यर्थ न बोलते। सागर की तरह गम्भीर, हिमालय की तरह निश्चल, और चन्द्रमा की तरह शांत, कोध पर उन्हें पूर्ण विजय प्राप्त थी पूर्ण संयमी। कितना ही कीचड़ उन पर उछाला गया लेकिन, उन्होंने कभी किसी को भला-बुरा नहीं कहा। एक बार विरोधियों के निकृष्ट प्रचार से दुखी होकर महात्मा जी के एकप्रेमी ने कहा, "अब तो सहन नहीं हो सकता। आज्ञा दीजिए कि इन्हें जवाव दिया जाए।" महात्मा जी ने उत्तर दिया, "वक्त आएगा, जब ऐसी बातें लिखने वाले स्वयं लज्जित होंगे। यदि तुमने भी लज्जित होना है तो तुम्हारी इच्छा।"

बे-लगाव कितने थे, इसका एक ही उदाहरण है १८९५ से १९११ तक दयानन्द कालिज रूपी पौधे को वृक्ष वना उनके प्रिंसीपल पद को भी त्याग दिया और वेद प्रचार तथा लोक सेवा की ओर ध्यान दिया। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का काम अपने हाथ में लेकर वेद प्रचार का क्षेत्र वहुत विस्तृत कर दिया। दुखी-पीड़ितों की सेवा में दिन रात एक कर भारत के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक दयानन्द का संदेश पहुंचा दिया, और जब देखा कि सभा का काम भी अब सुचारू रूप से होने लगा है तो १९३७ में इसका प्रधान पद भी त्याग दिया।

महात्मा जी के जीवन का एक ही उद्देश्य था। स्वामी का मिशन सफल हो ताकि हिन्दू जाति में नया जीवन आए, वह कुरीतियों और वहमों से बचे, एक ईश्वर की उपासक हो और पराधीन की कड़ियां काट सके। इसके लिए उन्होंने उपयुक्त साधन बरते। दयानन्द कालिजरी निस्वार्थ एवं निष्काम सेवा, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की स्थापना, महिला महाविद्यालय की स्थापना आदि सब इसी कार्यक्रम की कड़ियां थीं। इसी ध्येय-प्राप्ति के लिए जहां कहीं भी भारतीयों पर कष्ट आया, उन्होंने वहां ही आर्य सेवक भेजे, स्वयं भी यहां पहुंचे। शुद्धि आन्दोलन अछतोद्धार परिजनो की उन्नति आदि सबका यही प्रयोजन था। महात्मा हंसराज जी

महात्मा गांधी हरिजन सेवक संघ में भी काम करते रहे।

इस ध्येय के पीछे एक विचार था, जो महात्मा जी के इस वाक्य में झलकता है, "मैं तो अन्त में आप से यही कहना चाहता हूं कि स्वामी दयानन्द के बताए मार्ग पर दृढ़ता से कायम रहें और उस पर चलते हुए वैदिक धर्म का प्रचार और आर्य जाति का सुधार करें, ताकि सारे संसार का कल्याण हो सके।" महात्मा जी कहा करते थे। कि आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य सारे संसार का उपकार करना है, परन्तु, यह तब तक संभव नहीं, जब तक हिन्दू जाति मजबूत नहीं होती। वह अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलन को उस हद तक अच्छा समझते थे, जहां तक कि वह आजादी का प्रचार करती है, लेकिन, वह कांग्रेस नेताओं के कार्यक्रम एवं ढंग साधनों को सही नहीं समझते थे। विशेषकर उनकी मुसलमानों को खुश करने की नीति को न केवल हिन्दुओं के लिए अपितु सारे देश के लिए बहुत हानिकारक मानते थे। महात्मा जी ने कई बार दुखी होकर कहा, 'कांग्रेस नेता हिन्दुओं को ही कमजोर कर रहे हैं। एक बार उनसेपूछा गया कि वर्तमान अवस्था में हिन्दुओं को क्या करना चाहिए, तब महात्मा जी ने लिखवाया,—"हिन्दुओं का पहला काम हिन्दुओं की सहायता करना है और दूसरी संस्थाओं के साथ उन विषयों पर सहयोग करना है, जिससे हिन्दुओं को हानि न हो, बल्कि लाभ हो। और दूसरी संस्थाओं अथवा सरकार का विरोध करना है, जहां हिन्दुओं को नुकासन हो। संक्षेपतः हिन्दुओं की हिन्दू नीति होनी चाहिए। सम्भवतः, यह विचार संकीर्णता समझा जाएगा। लेकिन सकीर्ण होकर अपने अस्तित्व को बनाए रखना अधिक जरूरी है बजाय इसके कि कोई संस्था अपने को नष्ट कर ले।'

१९२०-२१ में जब कांग्रेस ने दिखलाए आंदोलन का साथ दिया तो महात्मा जी ने कहा, थोड़ी देर बाद आप देखेंगे कि ब्रिटिश सरकार मुसलमानों की पीठ ठोकेगी और हिन्दुओं को गिराना शुरु करेगी।" महात्मा हंसराज जी का एक-एक शब्द सत्य प्रमाणित हुआ। मतान्ध मुसलमानों को प्रसन्न करने की नीति छोड़कर ही कांग्रेस सफल हो सकेगी। जबकांग्रेस ने बायकाट का आन्दोलन जारी किया और शिक्षा संस्थाओं को भी बन्द करने की घोषणा की और पंजाब कांग्रेस की आज्ञानुसार स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने दयानन्द कालिज और दयानन्द स्कूलों को भी

बंद करने के लिए लेख लिखे तो महात्मा हंसराज जी ने पूरी शांति, गम्भीरता और सौम्यता से उनका ऐसा तर्क और युक्ति-पूर्ण उत्तर दिया कि उनके सिद्धांत की सत्यता को मानना पड़ा महात्मा जी ने तब लिखा था कि शिक्षा संस्थाओं को राजनैतिक आंदोलन की टेक नहीं बनाना चाहिए। इनके बन्द होने से सहस्रों नवयुवकों का जीवन नष्ट हो जाएगा बायकाट आंदोलन तो कुछ देर में निबट जाएगा, परन्तु, हिन्दुओं को बहुत हानि पहुंचेगी। राज-नैतिक आन्दोलन की आंधी थमने पर जन साधारण ने देखा कि महात्मा जी का कथन सही था।

शिक्षा के सम्बन्ध में महात्मा जी का निश्चित मत था कि केवल अंग्रेजी शिक्षा हमारे नवयुवकों को पथभ्रष्ट कर देगी। वर्तमान शिक्षा पद्धति से वह सहमत न थे। प्राचीन शिक्षा-पद्धति को वह सही समझते थे और इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्टरूपेण कहा भी। १९०८ में आपने कहा, ,शिक्षा केवल अमीरों के लिए नहीं होनी चाहिए, बल्कि गरीबों और निसहाय व्यक्तियों के लिए भी शिक्षा वैसी ही आवश्यक है। इसलिए उनकी निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध समाज अथवा सरकार की ओर से होना चाहिए। तभी यह लाभप्रद हो सकेगी!" यह बात उन्होंने केवल कही ही नहीं अपितु १९०८ में प्रारम्भिक शिक्षा मुक्त देने की घोषणा भी कर दी आपने यह भी कहा, उच्च शिक्षा हमारी आवश्यकतओं के अनुसार होनी चाहिए। संस्कृत के सम्बन्ध में आपका कथन था कि संस्कृत के ज्ञान के बिना कोई भी आध्यात्मिकता की अतुल धनराशियों तक पहुंच नहीं सकता। हिन्दी का ज्ञान तो आप न केवल प्रत्येक हिन्दू; अपितु प्रत्येक हिन्दुस्तानी के लिए अनिवार्य समझते थे और कहा करते थे कि जिन हिन्दू स्कूलों और कालिजों में हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा नहीं दी जाती, उन पर हमारा धन व्यर्थ ही व्यय हो रहा है।

प्रभु-भक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने बीसियों लेख लिखे और भाषण दिए। महात्मा जी दृढ ईश्वर-विश्वास थे। इस विश्वासी का सबूत लोगों ने तब देखा, जबकि दिल्ली षडयन्त्र केस में उनका बेटा कैद था। इतना बड़ा मुकदमा चल रहा था और घर में फूटी कौड़ी न थी। धर्मपत्नी मृत्युशय्या पर थी। निराशा ही निराशा चारों ओर दिखाई देती थी। तब एक देवी ने कहा कि मालूम होता है, ईश्वर कोई नहीं। यह सुनते ही महात्मा जी को क्रोध आ गया। एक ही बार क्रुद्ध हुए हैं

और तभी अंगारे बरसाते-से कहने लगे, "सावधान, फिर ऐसा न कहना। भगवान है। वही हम सबके सच्चे हितैषी हैं। जो करेंगे, अच्छा करेंगे!"

प्रतिदिन, प्रातः-काल संध्या करने में वह ७४ बरसों में कभी नहीं चूके। भोर वेला में उठकर अत्यन्त आनन्द-मग्न होकर भगवान का भजन करते और जब भी वक्त मिलता गायत्री का जाप करते वेद भगवान पर आपकी अटूट श्रद्धा थी। साधु आश्रम, होशियार पुर में जब लाला धनीराम जी भल्ला ने चतुर्वेद यज्ञ कराया तो महात्मा जी उस यज्ञ में निरन्तर उपस्थित रहे। जब तक आंखें ठीक रहीं, वह प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय किया करते थे;आखें कमजोर हो गई तो एक पण्डित से सुना करते।

लोक सेवा, गरीबों, दुखियों, विधवाओं, अनाथों के लिए उनका घर सदा खुला रहता। जो जाता संतुष्ट होकर लौटता। आयुपर्यंन्त किसी की बुराई का उन्होंने विचार नहीं किया। जहां तक बन पड़ा, औरों का कल्याण किया। महात्मा जी के जीवन पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि जीवन भर उन्होंने कठिन तपस्या की। अपनी प्रण-पूर्ति के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग दिया। लगातार ५८ वर्ष तक एक रस रह कर एक ध्येय को लेकर चलते रहना बहुत कठिन काम है। एक ही बार आग में छलांग लगाकर पतंगे की तरह जल मरना निस्संदेह वीरता है, शत्रुओं से जूझते हुए मर-मिटना पराक्रम है; पिस्तौल का निशाना बन जाना साहस है; लेकिन आजन्म पग-पग पर अपनी भावनाओं, उमंगों और लालसाओं को रौंदते रहना और अपने पथ से विचलित न होना सबसे बढ़कर वीरता, पराक्रम और साहस की बात है।

महात्मा हंसराज जी ने, संसार के कल्याण के लिए अपना जीवन तिल-तिल जला दिया; अपने रक्त की एक-एक बूंद बहा दी। इस आशा में कि शायद यों जलने से वह बुझा हुआ दीपक फिर जल पड़े, इस रक्त से सूखा वृक्ष फिर सिंच सके और संसार फिर वही स्वर्णकाल देख सके, हिन्दुस्तान में एक बार फिर स्वर्णयुग आ सके और हिन्दू जाति फिर अपने प्रचीन गौरव को प्राप्त कर सके। ऐसे महात्मा का जीवन लिखना, पढ़ना और सुनना निश्चय ही महान् सौभाग्य की बात है। प्रत्येक आर्य को महात्मा हंसराज के जीवन को पढ़कर प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए। □

महात्मा नारायण स्वामी

आर्यसमाज के तपोनिष्ठ, कुशल संगठनकर्त्ता महात्मा नारायण स्वामी का जन्म संवत् १९२२ (सन् १८६६) की वसन्त पंचमी को अलीगढ़ के एक साधारण मुंशी परिवार में हुआ था। आपका नाम नरायण प्रसाद रखा गया। प्राथमिक शिक्षा फारसी और अरबी में हुई। छोटी आयु में ही माता और पिता के प्यार से वंचित रहे। पिता की मृत्यु से पढ़ाई में रुकावट आ गई। मजबूर होकर मुरादाबाद में कलेक्टरी आफिस में नौकरी करने लगे। २३ वर्ष की आयु में विवाह हो गया।

मुरादाबाद में थे, वहां आपका सम्बन्ध एक आर्य समाजी महाशय हरसहाय से हुआ। उनके पवित्र जीवन और विचारों का आपके ऊंपर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १८९० में आप मुरादाबाद आर्यसमाज के सदस्य बने। आपकी कार्य कुशलता को देखकर अगले वर्ष आपको समाज का उपमन्त्री बनाया गया।

विवाह हो जाने पर भी पांच वर्ष तक आपने गृहस्थ को नहीं भोगा। इस सम्बन्ध में आपने लिखा—

विवाह के बाद अब तक गृहपत्नी के साथ न रहकर मैंने अपने को गृहस्थ होते हुए न केवल गृहस्थ के सुखों से वंचित रखा; किन्तु एक सुशिक्षित और सती-साध्वी देवी की सत्संगति से भी अलाभान्वित रखा।" सन् १८९७ में आपने क्रियात्मक गृहस्थ जीवन को शुरू किया। उस समय आपने निश्चय किया कि—

२० वर्ष गृहस्थ १० वर्ष वानप्रस्थ, उसके पश्चात् संन्यास धारण करूंगा। इस प्रतिज्ञा का आपने दृढ़ता से पालन किया। हर साल वसन्त पंचमी को आप अपने जन्म-दिन पर आत्म-निरीक्षण करते थे।

गृहस्थ जीवन में आपके दो पुत्र तथा एक पुत्री हुई। एक पुत्र पैदा होते ही मर गया। दूसरा पुत्र तथा पुत्री की मृत्यु भी बचपन में ही हो गई। द्वितीय पुत्र को जन्म देते समय सन् १९११ में पत्नी

का भी देहान्त हो गया। इस सम्वन्ध में स्वामी जी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है···

"इस प्रकार ३१ अगस्त सन् १६११ को धर्मपत्नी और दोनों पुत्रों को खोकर मैं गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों से मुक्त हो गया। कैसी समय की विलक्षण गति है कि वही मेरा ४३वां वर्ष था; जिसमें मैंने गृहस्थ छोड़ने का संकल्प कर रखा था। अन्तर इतना हो गया कि मैंने गृहस्थ को नहीं छोड़ा किन्तु गृहस्थ ने मुझे छोड़ दिया?"

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना करने में आपका सबसे बड़ा हाथ था। इस सभा की आपने विभिन्न पदों पर रहकर २८ वर्ष सेवा की। "आर्य-मित्र" जो पहले—"मुर्हरिक" नाम से उर्दू में प्रकाशित होता था—उसका सम्पादन भी आप करते थे। सन् १८६६ में प्रान्तीय सभा की कारोबारी द्वारा स्वामी जी ने एक आदर्श गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव पास करवाया। प्रस्ताव पास होने पर गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव पास करवाया। प्रस्ताव पास होने पर गुरुकुल खोलने के लिए २० हजार रुपये एकत्रित करने का निश्चय किया गया। स्वामी जी ने यह कार्य अपने हाथों में लिया। छः मास नौकरी से छुट्टी लेकर गांव-गांव में 'भिक्षाम् देहि करने निकल पड़े। सफलता मिलने पर प्रथम फर्रुखावाद में, उसके पश्चात् वृन्दावन में गुरुकुल खोला गया जो आज विश्वविद्यालय का रूप धारण कर चुका है। इस गुरुकुल में आपने आठ वर्ष सन् १६११ से १६१६ तक आश्चर्य, अधिष्ठता, संचालक आदि पदों पर रहकर सेवा की।

अपने पूर्व निश्चयानुसार सन् १६१६ के दिसम्बर मास में गुरुकुल उत्सव के पश्चात् स्व-इच्छा से त्याग-पत्र दे दिया। वान-प्रस्थाश्रम विताने के लिए हिमालय की सुन्दर तलहेटी में नैनीताल के पास रामगढ़ की सुन्दर घाटी में आपने अपनी कुटिया बना ली। यहां आपका जीवन एकान्तवास, तपस्वी और स्वाध्यायशील रहा। आत्मदर्शन, योगरहस्य, मृत्यु और परलोक, विद्यार्थी जीवन रहस्य, तथा उपनिषदों का आर्य भाष्य आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना आपने प्रायः यहीं की।

६ मई सन् १६२२ को अपने पूर्व संकल्प के अनुसार वीतराग आर्य संन्यासी स्वामी सर्वदानन्द जी से आपने संन्यास लेकर अपना नाम "नारायण स्वामी" रखा।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना ३१ अगस्त सन् १९०९ में हुई। उसके एक वर्ष पश्चात् आप इस सभा के मन्त्री चुने गए। लगातार आठ वर्ष इसी पद पर आप रहे। उसके पश्चात् सन् १९२३ से १९३९ तक लगातार १६ वर्ष आप इस सभा के प्रधान रहे। सभा के आज तक के इतिहास में इतने वर्ष प्रधान कोई नहीं बना। इसी काल में आपने सभा द्वारा आर्य जगत् की जो सेवा की वह आर्य समाज के इतिहास में स्वर्ण युग था।

सन् १९२५ में स्वामी दयानन्द की जन्म शताब्दी मनाई जाने वाली थी महात्मा नारायण स्वामी जी उस समय सार्वदेशिक सभा के प्रधान थे आर्य नेताओं ने शताब्दी को सफल बनाने के लिए स्वामी जी को सर्वसम्मति से संचालक नियुक्त किया। सब अधिकार आपको सौंप गए। १५ फरवरी से २१ फरवरी सन् १९२५ को ब्रज की महानगरी मथुरा में शताब्दी का कार्यक्रम रखा गया। देश-देशांतरों में लगभग पांच लाख आर्य नर-नारी उसमें उपस्थित हुए। उस युग का यह भारतीयों का संगठित आयोजन सबसे श्रेष्ठ और प्रभावशाली माना गया। सतयुगी वातावरण था। व्यवस्था में कोई पुलिस नहीं थी। किसी प्रकार की अशोभनीय घटना नहीं घटी। चारों ओर धार्मिक अध्यात्मिक वातावरण था। वेद मन्त्रों और भजन कीर्तन एवं व्याख्यानों की रमझट थी। ओ३म् की पावन पवित्र पताकाओं को देखकर ऐसा अनुभव किया जा रहा था, मानो आर्यों का साम्राज्य स्थापित हो गया हो। पोप लीला चलने वाले पौराणिक पाखण्डियों ने सम्मेलन से पूर्व आर्यों के खिलाफ अनर्गल प्रलाप अवश्य किया; परन्तु ज्यों ही चारों ओर से आर्यों के आने का सागर उमड़ पड़ा, त्यों ही उनकी बोलती बन्द हो गई।

सन् १९२६ में सभा को रजिस्ट्री नवीन उद्देश्यों और नियम के साथ कराई गई। जिसके अनुसार देश-विदेश की तमाम आर्य-सभायें तथा प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाएं सम्मिलित हो सकती थीं। वास्तव में सार्वदेशिक सभा ने उसी दिन से अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करके "International Arayan legue" का रूप धारण किया। इस कार्य को भी स्वामी जी ने बड़ी योग्यता से करवाया। इसी वर्ष शिवरात्रि पर स्वामी दयानन्द की जन्म भूमि टंकारा की शताब्दी समारोह मोरवी नरेश श्री महाराज लखधीर सिंह जी की अध्यक्षता पूर्ण सफलता पनाया गया।

राज ऋषि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज प्रातः नया वजार (अव श्रद्धानन्द वाजार) में स्थित सभा भवन में रहा करते थे। २३ दिसम्बर सन् १९१६ को एक मतान्ध मुसलमान अब्दुल रसीद ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर दी। इससे जहां आर्य जगत् में भयंकर रोष पैदा हुआ; वहां देश की हिन्दु जनता स्वामी जी के अभाव में अपने आपको अनाथ समझने लगी। सभा भवन सूना हो गया स्वामी श्रद्धानन्द के वलिदान के पश्चात् महात्मा नारायण स्वामी ने सभा भवन में रहने का निश्चय किया। तथा उस भवन को 'श्रद्धानन्द वलिदान भवन' के नाम से पुकारा जाने लगा।

हैदरावाद का सत्याग्रह अपने आप में एक अनूठा "धर्म युद्ध" था। निष्प्रण आर्य जाति में स्वामी दयानन्द की विचार धारा ने स्फूर्ति और शक्ति पैदा कर दी थी। अनुयायियों को जव यह पता लगा कि—"हैदरावाद रियासत का निजाम तथा उनके पिट्ठू रजाकार गुण्डे हिन्दुओं पर अत्याचार करके दमन चक्र चला रहे हैं, तव उन्होंने अपने पथप्रदर्शक के आदेश अनुसार कि "अत्याचार करने वाले से अत्याचार सहने वाला अधिक पापी है" को ध्यान में रख कर उसका मुकावला करने के लिए दिसम्वर १९३८ के अन्तिम सप्ताह में शोलापुर में 'आर्य महासम्मेलन' वुलाकर सत्याग्रह करने का निश्चय किया। इस सम्मेलन में वीर सावरकर, श्री माधव श्री हरि अणे आदि अनेक नेताओं ने भाग लिया। सत्याग्रह का नेतृत्व महात्मा नारायण स्वामी को सौंपा गया। ३० जनवरी १९३९ को प्रथम सत्याग्रही जत्था लेकर अपने हैदारावाद रियासत में प्रवेश किया। आपको गिरफ्तर ही नहीं किया गया, अपितु आपके हाथों और टांगों में लोहे की वेड़ियां डाली गईं। आर्य वीरों को जव इस वात का पता लगा, तव वे तिलमिला उठे। हजारों की संख्या में चारों ओर से सत्याग्रहियों ने हैदरावाद रियासत में प्रवेश करके निजामशाही के नाकों में दम कर दिया। आखिर निजाम को आर्य समाज के सामने झुकना पड़ा।

 स्वा० द०—१०

२६ जून १९४३ में सिंध सरकार ने साम्प्रदायिकता और धर्मान्धता के वशीभूत होकर "सत्यार्थ प्रकाश" पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार किया। १४ वें समुल्लास के प्रकाशन और मुद्रण पर प्रतिबन्ध लगाया गया। ता० २०, २१,२२ फरवरी १९४४ को इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए दिल्ली में डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी की अध्यक्षता में पंचम आर्य महासम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में आर्यों के जोश और उत्साह को देखकर सरकार घबराने लगी। सर अकवर हैदरी को तो कहना पड़ा—"आर्य तो जन्म से ही युद्ध करनें वाले हैं, उन्हें छेड़ना और उत्तेजित करना बुद्धिमान नहीं है।"

ता० ७ मई को सभा द्वारा "सत्यार्थ प्रकाश दिवस" मनाया गया। ता० ७ नवम्बर को भाई परमानन्द ने केन्द्रिय धारा सभा में उस सम्वन्ध में काम रोको प्रस्ताव रखा। सरदार सन्तसिंह श्री लालचन्द नवलराय, श्री अनंग मोहनदास तथा श्री सरचन्दा वकर ने प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया। १९ नवम्बर को दिल्ली में श्री घनश्यामसिंह गुप्त की अध्यक्षता में आर्य नेताओं को कांफ्रेंस हुई। महात्मा नारायण स्वामी ने करांची में सत्याग्रह किया सिंध में इससे बड़ी क्रांति पैदा हुई आर्यों की जिन्दादली को देख कर सरकार को "सत्यार्थ प्रकाश" के प्रकाशन पर से प्रतिवन्ध हटा देना पड़ा।

राष्ट्र को स्वतन्त्र कराने के लिए आपने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में जो महान कार्य किया उसें भुलाया नहीं जा सकता। आपसे अनेकों राष्ट्रीय नेता प्रेरणा लेते रहे। १५ अगस्त १९४७ को जव देश स्वतन्त्र हुआ तब आपको बड़ी खुशी हुई। ठीक दो मास पश्चात् १५ अक्तूबर १९४७ को बरेली के प्रसिद्ध आर्य नेता डा० श्याम स्वरूप जी के निवास स्थान पर आए समाज के महान सन्त शिरोमणि, आर्य दिवाकर, एक सच्चे तपस्वी, त्यागी, धर्मवीर महात्मा नारायण स्वामी का ८२ वर्ष की अवस्था में देहान्त हो गया,

स्वामी अभिदानन्द

वैदिक धर्म की पावन पताका को विदेशों में फहराते हुए अपनी जन्मभूमि से हजारों मील दूर अपनी जीवन लीला समाप्त करने वाले आर्यावर्त के सर्वप्रथम संन्यासी कोई थे तो वह थे। त्याग मूर्ति स्वामी अभिदानन्द सरस्वती।

आपका जन्म सन् १८९३ में उत्तर प्रदेश के एक छोटे से गांव में हुआ था। संन्यास लेने के पूर्व आपका नाम वेदव्रत वानप्रस्थी था आपके पूर्वज कट्टर सनातनी थे। इसी कारण आप भी जीवन के प्रथम २०-२२ वर्षों तक उसी वातावरण में रहे। आपकी स्वाध्याय प्रवृति प्रबल थी। तुलनात्मक अध्ययन करने से आपकी रुचि वैदिक धारा वा साहित्य पाने की ओर हुई। आपको इसी समय आर्य समाज का साहित्य और विशेषतः स्वामी दयानन्द लिखित ग्रन्थों को देखने पढ़ने और उनका मनन करने का मौका मिला। आपने सन् १९१५ में आर्यसमाज में प्रवेश किया। जन्मभूमि उत्तर प्रदेश होते हुए भी आपने बिहार को कर्मभूमि बनाया। वहां अपने गांव-गांव में जाकर स्वामी दयानन्द की विचार धारा का प्रचार किया और अनेक स्थानों पर आर्यसभायें स्थापित की। आपके मधुर विद्वत्ता पूर्ण भाषणों ने बिहार की जनता में नवीन क्रांति पैदा कर दी।

आर्य समाजों के उत्सवों पर पहुंचना आप अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। दान-दक्षिणा अपने लिए लेना आप बुरा समझते थे। आपकी अपनी आवश्यकताएं बहुत कम थीं। त्यागी होने के कारण आर्य समाजों के अधिकारी तथा अन्य लोग आपको आदर की दृष्टि से देखते थे। और आपकी कही गई बातों पर विशेष ध्यान देकर विद्यमान् समस्याओं को सुलझाते थे। जिसमें समाज के संगठन को अच्छा लाभ होता था। समस्याएं समाप्त हो जाती थीं।

स्वामी दयानन्द के शिष्य होने के नाते, आपने देश को विदेशियों के पंजे से छुड़ाना अपना धर्म समझा। इसके लिए आपने राष्ट्रीय आन्दोलन में खुलकर भाग लिया। जिसके कारण आपको

तीन बार जेल जाना पड़ा। सर्वप्रथम सन् १९१९ में आपको २६ वर्ष की आयु मे गिरफ्तार किया गया। जिसमें दो वर्ष तक जेल में रहना पड़ा।

विहार में जब भूकम्प आया, आर्य समाज की ओर से आपने भूकम्प पीड़ित लोगों की जो सेवा की वह बिहार प्रान्त के इतिहास मे स्वर्ण अक्षरों में लिखी जाएगी। विहार में आर्यसमाज तथा कांग्रेस की विविध संस्थाओं में आपने अनेक पदों पर रहकर कार्य किया। देश रत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद से लेकर साधारण व्यक्ति आपके आदर का भाव रखते थे।

हैदराबाद दक्षिण में निजाम सरकार ने जब हिन्दुओं पर अत्याचार आरम्भ किए, उस समय आर्यसमाज ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई। सत्याग्रह शुरू किया गया हजारों आर्य वीरों ने जेलों में रह कर निजाम के अत्याचारों को शांति से सहन करके उसे नीचा दिखाया और सफलता प्राप्त की। आर्यसमाज को इस सत्याग्रह में अनेक प्रकार से त्याग करना पड़ा। इस सत्याग्रह में पाच सर्वाधिकारी पं० वेदव्रत वानप्रस्थी के रूप में अपने ५३४ आर्य वीरों को साथ लेकर ५ मई-२९३९ को हैदराबाद दक्षिण में प्रवेश कर के सत्याग्रह किया। और अपने आपको गिरफ्तार करवाया। गिरफ्तारी से पूर्व आपने उत्तर प्रदेश, विहार ४ मध्य प्रदेश बम्बई प्रान्त का दौरा करके हजारों स्वयं सेवक भारती किए। और धन संग्रह करके आन्दोलन को सफल बनाने का प्रयास किया। आपके आर्य में शाहपुर रियासत के एक मुसलमान सय्यद फेज अली और पांच सिक्ख जवानों ने भी भाग लिया। निजाम के अत्याचारी शासन ने आप तथा आपके साथियों को पकड़कर हर गांव के एक ऐसे मकान में रखा। जहां न रहने का स्थान था, न खाने-पीने की कोई व्यवस्था थी। दूसरे दिन हर गांव जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में अभियोग बताया गया। जिसमें आपको दो वर्ष तथा अन्य सत्याग्रहिओं को डेढ़-डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनाई थी।

पंजाब में जब राष्ट्र भाषा हिन्दी के साथ कैरों सरकार ने अन्यायी रुख अपनाया तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रचंड आन्दोलन करने का निर्णय किया। आप उस समय सार्वदेशिक सभा के प्रधान थे। एक भाषा-स्वतन्त्र समिति बनाई। जिसके आदेश पर हजारों हिन्दी प्रेमी आर्य वीरों ने जेलों में कैसे शाही की नाक

में दम कर दिया। इस आन्दोलन का नेतृत्व आपने जिस ढंग से सम्भाला वह अपने आप में बेजोड़ और महान कार्य था।

आपके नेतृत्व में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने पर्याप्त उन्नति की और आज तक सार्वदेशिक सभा पक्षपात रहित होकर काम करती रही। जिससे आर्यसमाज का संगठन मजबूत बना।

आपने सार्वदेशिक सभा के प्रधान पद पर रहकर विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार को महत्व दिया। इसके लिए न सिर्फ आपने अन्य लोगों को विदेशों में प्रचार करने की प्रेरणा दी, अपितु स्वयं भी ६३ वर्ष की वृद्धावस्था में ता० ५ अक्तूबर को वायुयान द्वारा मौरिशश की राजधानी नेरोबी के लिए प्रस्थान किया। मौरिशश वासियों ने स्वामीजी का हवाई अड्डे पर भव्य स्वागत किया।

मौरिशश में स्वामीजी के व्याख्यानों ने वहां की जनता में नवीन शक्ति का संचार किया। लोगों की अपनी प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति के प्रति प्रेम पैदा होने लगा। स्वामी जी महाराज विदेश में वेद ज्योति जला रहे थे, ठीक उन्हीं दिनों इस महान् पथिक के जीवन का दीप सदा के लिए बुझ गया। हम से दूर उस स्थान पर जहां हम उन्हें पुनः न देख सकें। उनकी अत्येष्टि भी वहीं हुई वैदिक विधि से।

मौरिशश वर्षों की गुलामी से मुक्ति पा रहा है। उन्हें मुक्ति की राह दिखाने वाले असंख्य आर्य विद्वान और संन्यासियों की साधना समाई हुई है।

इन महान् भावों से भी पूर्व वहां क्रांति की ज्वाला पैदा करने वाले परिव्राजक संन्यासी स्वामी अभिदानन्द जी महाराज को यदि हम याद न करें तो मौरिशश के इतिहास से विश्वास घात होगा।

आज जब मौरिशश स्वाधीनता प्राप्त कर रहा है। उस समय हम वहां के निवासियों से अपील करेंगे। कि वहां पूज्य स्वामी का एक ऐसा स्मारक खड़ा करे। जहां से वैदिक विचार धारा को संसार में मानने वाले झण्डाधारी तैयार किए जा सके। ऐसा करने से हम उस त्याग की साकार मूर्ति, स्वामी अभिदानन्द जी को सच्ची श्रद्धान्जिल दे सकेंगे।

लाला देवराज

स जातो येन जातेन याति वशः समुन्नतिम् ।

नीतिकार के इन विचारों से हमें यह ज्ञात हुआ कि पैदा तो वही होता है। जिसने कुल का नाम उन्नति किया हो, परन्तु हमारे लेखनायक महात्मा लाला देवराज जी कुल के संकुचित दायरे से बहुत ऊपर थे। तभी तो तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर ने आर्य कन्या महाविद्यालय जालंधर का निरीक्षण करते हुए ता० ११ अक्तूबर १९१६ को लिखा।

जालंधर कोई ऐतिहासिक स्थान नहीं है लेकिन आर्य कन्या महाविद्यालय ने इस देश भर में प्रसिद्ध कर दिया है। स्त्री शिक्षा के बारे में महाविद्यालय सराहनीय और अनुकरणीय कार्य कर रहा है। अपने वश का ही नहीं परन्तु अपने नगर को भी संसार की प्रसिद्ध देने वाले लाला देवराज जी के कार्य की प्रशंसा करते हुए पंजाब के शिक्षा विभाग के अंग्रेज डायरेक्टर भी डब्लयु बैल की विजिट बुक में ता० १७ नवम्बर १९०५ ई० को लिखा। लाला देवराज लाखों में एक है उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए जो उद्योग किया है। जितनी ही तारीफ की जाय कम है। प्रान्त में कोई ऐसा स्कूल नहीं है जो मुझे इससे अधिक पसन्द हो। और जिसके लिए मेरे दिल में अधिक आदर हो।

स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक लाला देवराज जी का जालंधर के सुखी सम्पन्न परिवार में ६ मार्च सन १८६० ई० में हुआ था। आपके पिता का नाम राय सालिगराम तथा काहन देवी था। माता अशिक्षित परन्तु बहुत धार्मिक विचारों वाली थी। माता के धार्मिक विचारों का प्रभाव बालक देवराज पर भी पड़ा। ५-६ वर्ष की छोटी अवस्था में माता को कह कर सिंहासन मंगवाकर बड़ी श्रद्धा से मूर्ति पूजा करने लगे। उन दिनों में पंजाब के लगभग सभी रईस परिवारों में मांस और शराब का प्रयोग होता था। इसका कारण मुस्लिम आचार-विचार का प्रभाव कहा जा सकता है। आपके

माता-पिता राय सालिगराम भी शराब और मांस का प्रयोग करते थे। अपनी माता के धार्मिक प्रभाव के कारण देवराज जी ने १५-१६ की आयु में शराब और मांस का प्रयोग नहीं किया। परन्तु शिक्षा और विचार धारा के प्रभाव में आकर आपने भी मांस खाना और शराब पीना शुरू कर दिया। आर्य समाज के विचारों का प्रभाव पड़ने पर अपने तमाम बुरे व्यसनों तथा तामसिक आहार का परित्याग कर दिया। स्वामी दयानन्द की विचारधारा से आप इतने प्रभावित हुए कि आपने जालंधर में आर्य समाज मन्दिर बनवाने का निश्चय किया। लाला मुन्शीराम, लाला काशीराम, श्री नगीनामल, मास्टर हीरासिंह, मास्टर रामजीदास, मास्टर मुश्ताक राय आदि को साथ लेकर आपने आर्य समाज के मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू किया। समाज मन्दिर के निर्माण कार्य में आप लोगों ने उच्च परिवार के होते हुए भी ईंटें और गारे की तगारियां अपने सिर पर उठाईं। समाज में झाड़ू लगाना दरी बिछाना आदि के कार्य में आप अपना गौरव अनुभव करते थे। मन्दिर को पवित्र और साफ रखना आप अपना कर्त्तव्य समझते थे। सेवक के सहारे समाज का कार्य अपनी प्रगति नहीं कर सकता। यह आपका मत था। समाज के तमाम सदस्यों और विशेष कर पदाधिकारियों को ही समाज का सब कार्य स्वयं करना चाहिए। तभी समाज की प्रगति होगी। ऐसा आपका निश्चित दृष्टिकोण था।

दिन रात आपको आर्य समाज की धुन थी। १५-१६ वर्ष आप आर्य समाज जालंधर के मंत्री रहे। समाज के प्रचार आदि कार्य के लिए आप दो-दो तीन-तीन मास बाहर चले जाते थे। आपकी यह धार्मिक धुन को देखकर आपके पिता भी बहुत नाराज हो गए। ता० २० मार्च सन १८८७ को आपके पिता ने आपको स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि तुम आर्य समाज कार्य करते हो इससे हमारी बहुत बदनामी होती है। तुम या तो आर्य समाज का कार्य करना छोड़ दो या कहीं बाहर चले जाओ। विचारों के पक्के देवराज जी ने आर्य समाज छोड़ने की अपेक्षा घर छोड़ना पसन्द किया। घर त्याग की पूरी तैयारी कर ली। पिता और माता ने जब देखा कि पुत्र गृह त्यागने को तैयार है। परन्तु आर्य समाज को त्यागना नहीं चाहता। तब उन्होंने पुत्र को आर्य समाज के कार्य की स्वीकृति देकर उन्हें रोक लिया।

अव देवराज जी वड़े उत्साह से आर्य समाज का कार्य करने लगे। पारिवारिक सत्संग शुरू कर दिए। मूर्ति पूजा, वाल लग्न, पर्दा-प्रथा, स्त्री शिक्षा, पुराणों की पोल-पट्टी पर आप निडर हो कर प्रकाश डालने लगे। पोंगा-पन्थी, पाखंडी पिता के साथियों ने पिता सालिगराम के कान भरने शुरू कर दिए। पिता ने पुनः पुत्र देवराज पर आर्य समाज का कार्य न करने के लिए दवाव डालना शुरू कर दिया। मामला तंग हो गया। मजवूर होकर सन् १८८७ में आपने अपने गृह का त्याग करके रंगून जाना पड़ा।

पुत्र वियोग में माता पिता परेशान होने लगे। प्यार उमड़ आया पिता ने पुत्र को तार दिया कि हुक्म की तालीन करो वापस लौट आओ। आज्ञाकारी पुत्र ने पिता का तार मिलते ही जालंधर के लिए रंगून प्रस्थान किया। अव आपको आर्य समाज का कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता मिल गई।

यह काल आर्य समाज के वाल्य काल का था। प्रगतिशील विचारों के कारण पाखंडी परेशान थे। उन्होंने आर्य समाज पर चारों ओर से हमले करने तथा नाके वन्दी करके आर्य समाज का कार्य करने वालों के लिए भयंकर मुसीवतों का जाल वसा दिया। उस समय आर्य समाज का कार्य करना आग से खेलना था। समाज का कार्य करने वालों को जाति-विरादरी से वाहर निकाल दिया जाता था। लाला देवराज जी के साथ भी ऐसा ही हुआ था, उन्हें विरादरी से निकालने का आयोजन किया गया। इस सम्वन्ध में स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी पुस्तक "कल्याण मार्ग का पथिक" में ही रोचक ढंग से वर्णन करते हुए लिखा है।

थापर खत्रियों के दीवानखानें में आर्य समाजियों को जातिच्युत करने की व्यवस्था देने के लिए ब्राह्मणों की पंचायत वुलाई गई। शहर में बड़ी हलचल मच गई जिनके लड़के, पोते, दोहते, भतीजे आदि आर्य समाजी थे वे उन ब्राह्मण धर्माभिमानियों की सूची वनाने लगे। जिनको काला अक्षर भैंस वरावर था और गायत्री मंत्र से भी अनभिज्ञ थे। व्यवस्था देने वालों में किसी के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध था कि वे एक सम्वन्धिनी से फंसे हुए थे। दूसरे शिरोमणि और लोकमान्य माने जाने वाले भी व्यभिचार दोष के लिए वदनाम थे। जुवेवाज थे। देवराज जी ने भी इनमें से एक से जनेऊ लिया था। वे उनके पास मेरे साथ गए और उनसे वोले। पण्डित जी

आप मेरे गुरु हैं। पंचायत कीजिए। हमारा प्रश्न यह होगा कि जो इस प्रकार के पापाचार में लिप्त है। उनको पहले गधे पर सवार करके देश से निकाल दिया जाए तब हम अपनी सफाई पेश करेंगे। देवराज की धमकी काम आ गई पंचायत का समय आया तो शिरोमणि जी प्रातः काल ही टिकट कटवाकर अमृतसर चल दिए। देवराज के गुरुजी हाथ में लोटा लिए कान पर जनेऊ चढ़ा सवेरे दस बजे जो जंगल गए तो शाम तक वापस नहीं लौटे।

लाला देवराज का निश्चित मत था जब तक नारी जाति में वैदिक विचार धारा का प्रचार नहीं होगा। तब तक आर्य जाति का उद्धार नहीं हो सकता। इसके लिए आपने स्त्री शिक्षा के कार्य को परम आवश्यक समझा। आपकी प्रेरणा से आर्य समाज जालंधर ने कन्या पाठशाला खोलने का प्रस्ताव पास किया। आपने प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप देने के लिए दिन रात परिश्रम किया। लड़कियों के माता-पिता से मिलकर खोली गई पाठशाला में उन्हें भेजने के प्रयास किए आपके पुरुषार्थ से इस पाठशाला ने आगे चलकर महाविद्यालय का रूप धारण किया। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में सम्भवतः यह प्रथम आर्य शिक्षा संस्थान था। जिसकी प्रसिद्धी सारे देश भर में फैल गई। इस संस्था के विकाश में स्वामी श्रद्धानन्द का भी अमूल्य योगदान रहा। आपने आर्य समाज के कार्य की प्रगति देने के लिए योग्य प्रचारक तैयार करने के लिए उपदेशक विद्यालय भी खोला। राय बहादुर ठाकुर दत्त भवन की प्रेरणा से आपने सन १८९६ में वेद प्रचार निधि की स्थापना करके वेदप्रचार कार्य को गति प्रदान की।

पंजाब में आपने जो कार्य किया वह अपने आप में बहुत बड़ा इतिहास है। जिसका उल्लेख करना यहां सम्भव नहीं। जालन्धर का आर्य कन्या महाविद्यालय जीता जागता कीर्ति स्तम्भ है। महामानव लाला देवराज जी का स्वर्गवास ता० १७ अप्रेल सन् १९३५ में ७५ वर्ष की सुदीर्घ आयु में जालंधर में हुआ था। □

हुतात्मा श्यामलाल

धर्मवीर पं० श्यामलाल जी का जन्म दिसम्बर १९०३ ई० में हैदराबाद राज्यान्तर्गत बीदर जिले के भालकी नामक ग्राम में हुआ था। पिता का नाम भोला प्रसाद (भोलानाथ) और माता का नाम छट्टोबाई था। जन्मना आप ब्राह्मण थे।

हैदराबाद राज्य के विभिन्न मेलों पर भी श्यामलाल जी प्रचारार्थ जाया करते थे। प्रतिवर्ष के अनुसार १९३५ में माणिक नगर के मेले पर प्रचारार्थ गए। आर्यों का नगर-कीर्तन निकल रहा था, मुसलमानों ने उस पर हमला कर दिया। एक व्यक्ति ने छुरे से भाई श्यामलाल जी पर भी भयानक वार किया, परन्तु एक युवक ने उन्हें बचा लिया। युवक को गहरा जख्म लगा। बंशीलाल जी उस समय हल्लीखेड़ में थे। पुलिस ने अपनी योग्यता का परिचय देते हुए उल्टा ही न्याय किया। श्री श्यामलाल जी, बंशीलाल जी, दत्तात्रेय प्रसाद जी तथा नरेन्द्रजी पर उसने केस चलाया। अन्त में श्यामलाल तथा बंशीलाल जी पर ५०) जुर्माने का दण्ड मिला।

इसके पश्चात् श्यामलाल जी बहुत बीमार हो गए। चिकित्सा के लिए १९३६ में बम्बई गए। वहां उनके सब दांत निकाल दिए गए, आंख का आपरेशन किया गया। केवल दूध और केलों पर उनका निर्वाह होने लगा। इस बीमारी में उन्हें पर्याप्त कष्ट सहना पड़ा। बीमारी के दिनों में वे बम्बई आर्य समाज में कार्य करते रहते थे। चिकित्सा समाप्ति के बाद वे गुलबर्गा रहने लगे।

सभा का कार्यालय इन दिनों उदगीर में था। मन्त्री श्री बंशी लाल जी थे। स्टेट में आर्यसमाज और हुकूमत में तनातनी बढ़ रही थी। इस सत्याग्रह रूपी ज्वालामुखी पर्वत के टूट पड़ने का सामान

तैयार हो रहा था। वेदप्रकाश तथा धर्मप्रकाश के बलिदान हो चुके थे। जगह-जगह दंगों के द्वारा हिन्दुओं को हानि पहुंचाई जा रही थी हैदराबाद में पं० विनायकराव जी के मकान पर आक्रमण हो चुका था। हैदराबाद, गुलबर्गा तथा हुपले की कांड की कहानी जनता की जबान पर थी। आर्य समाजियों पर बीसों अभियोग चल रहे थे। पं० श्यामलाल जी का स्वास्थ्य भी डांवाडोल परिस्थितियों की भांति कभी अच्छा और कभी खराब रहता था।

१९३७ का दशहरा आ गया। उदगीर के आर्यों विशेष आग्रह पर श्याम लाल जी उदगीर गए। श्री बंशीलाल जी सार्वदेशिक सभा के अन्तरंग अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली गए हुए थे। दशहरे पर दंगा हो गया तथा गंगाराम नामी लिंगायत द्वारा एक मुसलमान मारा गया। पुलिस ने पंडित श्याम लाल जी को पकड़ा और बीदर की जेल में डाल दिया। इस कारागार से वे जीवित शरीर से बाहर न आ सके।

पं० श्यामलाल जी की मृत्यु हो गई परन्तु वे अमर हैं। उनकी मौत ने सैकड़ों व्यक्तियों को धर्म पर बलिदान देने के लिए अनुप्राणित किया।

पं० श्यामलाल जी का शरीर बहुत जर्जर था परन्तु स्वभाव अत्यन्त ही आकर्षक था उनका कद मध्यम था, न अधिक ऊंचे न अधिक नाटे, रंग सांवला था। मुख पर सदा प्रसन्नता, निडरता, दृढ़ता और गम्भीरता की छाया रहती थी। उनके व्यक्तित्व में गजब की आकर्षण शक्ति थी। जो व्यक्ति उनसे एक बार बातचीत कर लेता वह उनकी ओर खिंचे बिना न रहता। उत्साही युवकों का सदा उनके चारों ओर जमघट लगा रहता था। वे जहां स्वयं वैदिक सिद्धांतों का दृढ़ता के साथ अनुसरण करते वहां दूसरों को भी उस पथ पर चलने की प्रेरणा करते थे। □

नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ

जीवन और शिक्षा

आचार्य नरदेव शास्त्री उन व्यक्तियों में से थे जो अहिन्दी भाषी होते हुए भी आजीवन संस्कृत वांगमय और हिन्दी की सेवा में ही लगे रहे और जिन्होंने अपना कार्यक्षेत्र अपनी जन्मभूमि को न बना कर उत्तर भारत को ही बनाया। उनका जन्म २१ अक्तूबर सन् १८८० को हैदराबाद रियासत के शेढम स्थान में एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी मातृ-भाषा मराठी थी और उनका जन्म नाम नरसिंहराव था। यही 'नरसिंहराव' बाद में 'नरदेव' बन गया और एक समय ऐसा भी आया जबकि सामान्यतः समस्त हिन्दी-प्रेमियों और विशेषतः उत्तर भारत में वह 'नरदेव शास्त्री' तथा 'रावजी' इन दो नामों से विख्यात हो गए। उनके अत्यन्त निकटवर्ती लोग उन्हें 'रावजी' इसलिए कहते थे कि उनकी वंश-परम्परा से चला आने वाला 'राव' शब्द उनके जीवन से असामान्य रूप से घुल-मिल गया था।

जब वह छोटे ही थे तो संस्कृत साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने के लिए लाहौर चले गए। लाहौर में रहकर उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की और बाद में कलकत्ता के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित सत्यव्रत सामाश्रमी के निरीक्षण में वेदों का पारायण किया। वहीं से ऋग्वेद के विशेष अध्ययन के साथ उन्होंने 'वेदतीर्थ' परीक्षा अत्यन्त योग्यतापूर्वक उत्तीर्ण की। तभी से वह नरदेव शास्त्री 'वेदतीर्थ' हो गए।

कार्य क्षेत्र में

वेदतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त वह फिर लाहौर चले आए और आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानन्द (जो उस समय महात्मा मुंशीराम के नाम से विख्यात थे) के साथ मिलकर

शिक्षा के क्षेत्र में नए प्रयोग करने का निश्चय किया। यहीं पर उनकी सुप्रसिद्ध समालोचक पंडित पद्मसिंह शर्मा से भेंट हुई। उस समय पंजाब में आर्य समाज द्वारा प्रचलित सुधारों का बड़ा जोर था। कार्य क्षेत्र में प्रवेश करने पर उन्होंने लाहौर को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया और धीरे-धीरे युवक कार्यकर्त्ताओं की एक ऐसी मंडली बन गई कि उस मंडली ने बाद में देश के सामाजिक, शैक्षणिक और साहित्यिक जागरण के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना लिया।

महात्मा मुंशीराम आर्यसमाज के उन नेताओं में से थे जो देश को एक नया मोड़ देना चाहते थे। अपनी इस धारणा को क्रियान्वित करने के पावन उद्देश्य से उन्होंने हरिद्वार के समीपवर्ती शिवालक पर्वत की पवित्र उपत्यका में 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना की। इस संस्था का सूत्रपात उन्होंने इस दृष्टि से किया था कि वहां पर भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय करने वाली ऐसी शिक्षा पद्धति का प्रचलन करेंगे, जिसका माध्यम अंग्रेजी न होकर हिंदी हो। उनकी यह भी धारणा थी कि इस संस्था में वेदों, उपनिषदों, और दर्शनों का विधिवत् अध्ययन करने के साथ-साथ हमारे युवक देश की प्रगति से भी सर्वथा अपरिचित न रहें। अपने इस स्वप्न को साकार करने के लिए महात्मा मुन्शीराम ने जिन महारथियों का सहयोग लिया था, उनमें से एक आचार्य नरदेव शास्त्री भी थे। वह उन दिनों स्व० आचार्य गंगादत्त जी (जो बाद में स्व० शुद्धबोधतीर्थ के नाम से विख्यात हुए।) के साथ पंजाब के गुजरानवाला स्थान में एक विद्यालय में पढ़ाते थे। उन दिनों कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रत्येक विषय के धुरन्धर विद्वानों का अपूर्व जमघट था।

ज्वालापुर में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासी तार्किक शिरोमणि स्व० दर्शनानन्द जी सरस्वती ने एक ऐसे गुरुकुल की स्थापना की जिसमें प्रत्येक वर्ण, जाति, और समाज के बालकों को संस्कृत साहित्य और उसके वेद, उपनिषद् दर्शन तथा धर्म-शास्त्र आदि उपांगों की वैदिक दृष्टिकोण से निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाए। कांगड़ी गुरुकुल में 'विश्वविद्यालय' पद्धति पर शिक्षा दी जाती थी। ज्वालापुर महाविद्यालय की नींव सन् १९०८ में इसलिए डाली गई कि इस संस्था में प्राचीन ऋषि परम्परा के अनुसार शिक्षा की व्य-

वस्था हो। जब इस संस्था की स्थापना हुई तो श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ और गंगादत्त जी भी कांगड़ी से चले आये। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान पं० भीमसेन शर्मा, गणपति शर्मा, और पद्मसिंह शर्मा भी उन दिनों गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में उनके साथियों में थे। इन पांच महापुरुषों ने मिलकर ज्वालापुर महाविद्यालय के द्वारा उत्तर भारत की जो सेवा की वह सर्वविदित है। नरदेव शास्त्री जी जब से इस संस्था में आए तब से अब तक वह इस संस्था में मंत्री, मुख्याधिष्ठाता, आचार्य और कुलपति आदि विभिन्न पदों पर अवैतनिक रूप से कार्य करते रहे। विगत २०-२५ वर्ष से वह इस संस्था के 'कुलपति के पद पर प्रतिष्ठित थे। अपने जीवन के प्रति वह अनासक्त रहते थे। उनकी इस अनासक्ति का यह उज्ज्वल प्रमाण है कि यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहे। पैसे का कभी लोभ नहीं किया। संग्रह की कामना उनमें तनिक भी न थी। एक जोड़ी कपड़ों और कुछ पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी कोई सम्पत्ति न थी।

अपनी कर्मठता से उन्होंने समस्त उत्तराखण्ड के सामाजिक जन जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। वर्षों तक गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आचार्य के पद पर कार्य करते हुए जहां उन्होंने अनेक विषयों के पारंगत विद्वान स्नातक देश को दिये वहां राजनीति के क्षेत्र में भी वह किसी से पीछे नहीं रहे। देहरादून और गढ़वाल के तो जैसे वह बिना ताज के बादशाह थे। यह उनकी निःस्वार्थ सेवाओं और कर्मठ जीवन का ही प्रमाण है कि वहां के गांव-गांव में नरदेव शास्त्री का नाम एक देवता के रूप में याद किया जाता है। देश की स्वतन्त्रता के लिए चलाए गए सभी आन्दोलनों में उन्होंने इस प्रदेश की जनता का सही नेतृत्व किया और अपना वह स्थान बनाया कि बड़े से बड़े नेता भी उनके नाम और काम की इज्जत करते थे। यह उनकी कर्मठता और लोकप्रियता का ही उज्ज्वल प्रमाण है कि उन्होंने इस प्रदेश में जहां अनेक राजनीतिक सम्मेलनों का नेतृत्व किया वहां कई ऐसे समारोहों के स्वागताध्यक्ष भी रहे जिनमें देश की चोटी के नेताओं ने उनके निमन्त्रण पर भाग लिया। देहरादून और ऋषिकेश उनके राष्ट्रीय जीवन की कर्मभूमि रहे थे। आज जितने भी राजनीतिक नेता इस क्षेत्र में उत्कर्ष पर हैं उन सभी को शास्त्री जी का आशीर्वाद प्राप्त

था। निरन्तर २०-२५ वर्ष तक वह इसी क्षेत्र में अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य के रूप में जनता का नेतृत्व करते रहे थे। काफी समय तक उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य भी रहे। बाद में दलबन्दी के प्रति घोर अनास्था के कारण वह राजनीतिक क्षेत्र से हट गये थे।

'भारतोदय' के सम्पादक के रूप में उन्होंने साहित्य सेवा और पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने जब 'भारतोदय' के सम्पादन से विश्राम ग्रहण किया था तो उन्होंने उनकी कमी का आभास हिन्दी जगत् को नहीं होने दिया और जब तक वह प्रकाशित हुआ तब तक उसके सम्पादक रहे। 'भारतोदय' के अतिरिक्त मुरादाबाद से प्रकाशित होने वाले 'शंकर' नामक मासिक पत्र का सम्पादन भी इन्होंने कई वर्ष तक अत्यन्त उत्साह के साथ किया था। आगरा से प्रकाशित होने वाले 'दिवाकर' नामक पत्र का 'वेदांक' जिन व्यक्तियों ने देखा होगा वे इनकी विद्वत्ता और सम्पादन पटुता से भलीभांति अवगत हो गए होंगे। वह एक अच्छे पत्रकार होने के साथ-साथ उच्चकोटि के लेखक और विचारक भी थे।

आपने 'गीता विमर्श', 'ऋग्वेदालोचन' 'पत्र-पुष्प' 'कारावास की रामकहानी' तथा 'आर्य समाज का इतिहास' (दो भाग) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त देहरादून और गढ़वाल जिले के राजनीतिक, आन्दोलन का इतिहास नामक वृत्त भी उनकी रचनाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है

उन्होंने 'आत्मकथा या आप बीती जग बीती' नाम से अपनी एक विस्तृत आत्मकथा भी लिखी थी, जो न केवल उनकी जीवनी को ही हमारे सामने प्रस्तुत करती है, बल्कि उनको पढ़कर हम पिछले ५-६ दशकों की साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियों का लेखा जोखा भी प्राप्त कर सकते हैं। देहरादून में अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन स्व० माधवराव प्रेस की अध्यक्षता में संवत् १९८१ में हुआ था, उसके स्वागताध्यक्ष भी आप ही थे। यह आपकी लोक प्रियता का ही प्रमाण है कि भारतपुर में हुए अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आयोजित पत्रकार सम्मेलन का अध्यक्षपद आपको प्रदान किया गया था। नागपुर में डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में हिन्दी

साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन सवत १९१३ में हुआ था, उसमें हुई 'दर्शन परिषद्' में अध्यक्ष भी आप ही थे।

राजनीति, साहित्य और धर्म की 'त्रिवेणी' यदि किसी व्यक्ति के जीवन में अवतरित हुई थी तो वह आचार्य नरदेव श स्त्री वेद-तीर्थ ही थे। किसी साहित्य सम्मेलन और राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का ऐसा कोई ही अधिवेशन बचा होगा, जिसमें वह न सम्मिलित हुए हों। वास्तव में वह साहित्यतीर्थ थे।

वह बीसवीं शताब्दी में जन्मे, पले और बढ़े थे, किन्तु फिर भी उनका (आचार्यत्व) उस पुरातन ऋषि परम्परा के आदेश की याद दिलाता था, जिसमें शिष्य समुदाय पेड़ों के नीचे बैठकर अध्ययन करके अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार गुरु के श्री चरणों में दक्षिणा भेंट किया करता था। प्रत्येक वर्ष 'व्यास पूर्णिमा' के दिन उनकी शिष्य परम्परा का उज्ज्वल उदाहरण देखने को मिलता था, जबकि देश के कोने कोने में फैले हुए उनके शिष्य अपनी श्रद्धा शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आचार्य के श्रीचरणों मे अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करते थे।

उनका व्यक्तित्व बहुत तेजस्वी और अद्भुत था। मुझे ऐसा अवसर कोई भी याद नहीं आता कि जब उन्होंने किसी भी काम में दूसरे व्यक्तियों की तरफ सहायता या याचना की भावना से देखा हो। वह स्वयं में इतने निस्पृह आत्मविश्वासी और कर्मठ थे कि स्वयं ही काम में जुट जाते थे और बाद में देखते थे कि उनके पीछे एक अपार जन-समूह उमड़ा चला आ रहा है, साहित्यिक, राज-नीतिक, शैक्षणिक, धार्मिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में उनका अभाव खलेगा। वे २४ सितम्बर को ८४ वर्ष की अवस्था में हमसे विदा हो गए।

महान् आत्मा-विद्यानन्द विदेह

क्षारं जलं वारिमुचः पिवन्ति,
तदेव कृत्वा मधुरं वमन्ति ।
सन्तस्तथा दुर्जनदुर्वचांसि,
पीत्वा च सूक्तानि समुद्गरन्ति ।

अर्थात्—"वादल समुन्द्र का खारा जल पीता है और उसको मीठा बनाकर वरसा देता है। इसी प्रकार सज्जन भी दुर्जन के दुर्वचन सुनकर और सहकर उत्तर में सद्वचन ही बोलते हैं।

यह शब्द मैं कभी नहीं भूल सकता। जब स्वामी विद्यानन्द विदेह की कुछ स्वार्थी राजनैतिक आर्य समाजी नेताओं ने छोटी-सी बातों को लेकर वेदी वन्द कर दी थी। तब मिलने पर वार्तालाप हुआ—उस समय आपने यह शब्द कहे थे। समय आने पर लोगों ने अपना मतलब सिद्ध करने के लिए सब बातें भुलाकर उन्हें सार्वदेशिक सभा में प्रतिष्ठित संन्यासियों के रूप में स्वीकार किया।

स्वामी जी का जन्म १५ नवम्बर १८९९ में ग्राम "टप्पल" जिला अलीगढ़ (उ० प्र०) में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री देवी प्रसाद तथा माता का नाम श्रीमती शोभा देवी था। आपके बाल्यावस्था में आपका नाम चैनसुखदास रखा गया। बचपन में पहले उर्दू पढ़ी। दूसरी कक्षा "वराल" में उसके बाद चौथी तक "ईसेपुर" में पढ़ाई की। मिडिल बुलन्दशहर में पास करके खुर्जा अपने पिता के वहां तीन कक्षाएं अंग्रेजी की पढ़ी १४ वर्ष की छोटी अवस्था में बराल निवासी श्री मिश्रीलाल की पुत्री गोमती देवी से आपका विवाह हुआ। सन १९१८ में आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की।

आजीविका की समस्या प्रत्येक गृहस्थी के लिए महत्वपूर्ण रहती है। खुर्जा में कोई मार्ग न देखकर आर्य अलीगढ़ और दिल्ली होते हुए अजमेर पहुंचे। वहां ओसवाल जैन स्कूल में अध्यापक का कार्य

स्वा० द०—११

करते हुए आपका सम्बन्ध वहां के प्रसिद्ध आर्य समाजी नेता कर्मवीर पंडित जियालाल जी से हुआ। उन्होंने आपकी प्रतिभा को देखते हुए डी० ए० वी० स्कूल के दयानन्द छात्रावास का सहायक अधिष्ठा नियुक्त कर दिया और साथ में सत्यार्थ प्रकाश एवं पंडित लेखराम का लिखा स्वामी दयानन्द को जीवन चरित्र पढ़ने के लिए दिया। आप आर्य समाज के समीप आए। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, तथा वेद भाष्य पढ़ने में आपकी रुचि पैदा हो गई। अजमेर में रहते हुए आपको २० जनवरी १९२१ को अजमेर रेलवे में पुलिस सुपरिन्टैं-डंट के कार्यालय में स्थाई रूप से नौकरी मिल गई। अजमेर से आप आबू आदि अनेक स्थानों पर गए, परन्तु आपका वेदाध्ययन कार्य बन्द नहीं हुआ। परमात्मा की पवित्र प्रकृति ने आपको कवि भी बना दिया। योग में रुचि पैदा हो गई। आपने सन् १९२६ में अपना नाम 'विद्यानन्द' रख लिया। सन १९३६ से आपने वेदभाष्य का कार्य शुरू किया। १४ फरवरी १९४८ में वसंत पंचमी को आपने अजमेर में "वेद संस्थान" की स्थापना की। सविता मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया। १७ अगस्त सन १९४९ को पचास वर्ष पूर्ण हो जाने के कारण आपने वैदिक मर्यादाओं के अनुसार "वान-प्रस्थाश्रम" की दीक्षा ली। १५ अगस्त १९५५ में आपने बटाला जिला गुरुदासपुर पंजाब में आर्य समाज के वीतराग संन्यासी स्वामी आमानन्द सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली। १४ जून १९५९ में "वेद संस्थान" की दूसरी शाखा दिल्ली के राजोरीगार्डन में खोली गई।

स्वामी विद्यानन्द विदेह, दयानन्द के दीवान भक्त थे—उनका स्वाध्याय, साहित्य प्रेम, लिखना पढ़ना बोलना सब आर्य समाज एवं वेद के लिए समर्पित था। आपने अकेले व्यक्ति ने वेद का जितना प्रचार किया उतना किसी संगठन नें भी नहीं किया। आपने अपने तप, त्याग और निष्ठा से "वेद संस्थान" की स्थापना करके अपनी योग्यता का संसार को परिचय दिया।

५ मार्च १९७८ को सहारनपुर में "वेद कथा" करते हुए स्वामी जी हमारे मध्य से चले गए।

□

डा० दुखन राम

एशिया के सुप्रसिद्ध नेत्र चिकित्सक एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष। डा० दुखनराम जी के ७४ वें जन्म दिवस पर हम उनके दीर्घ जीवन की कामना करते हैं। जिससे आर्य समाज की प्रगति में उनका आशीर्वाद मिलता रहे।

विहार की भूमि प्रारम्भ से ही रत्न गर्भा रही है। जिसमें प्राचीन काल से अब तक विद्वान तेजस्वी एवं प्रतिभा पूर्ण महापुरुष एवं योद्धा पैदा हुए संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य पाणिनी सम्राट अशोक, चन्द्रगुप्त, बुद्ध महावीर—गुरुगोविन्द सिंह एवं राजेन्द्र बाबू की जन्म भूमि विहार में ही थी। इसी सदी में ७३ वर्ष पूर्व अद्भुत पुरुष का अवतरण उसी रज्य के सासाराम शहर में हुआ। जिसमें प्राचीन भारतीय संस्कृत के साथ-साथ आधुनिक जगत को चकाचोंध करने वाली प्रखर वैज्ञानिक बुद्धि का अद्भुत सामजस्य है। इस पुरुष डा० राम ने अपने वैज्ञानिक प्रतिभा के साथ-साथ शैक्षणिक योग्यता के कारण ही आपने पटना मेडिकल कालेज के प्राचार्य पद विहार विश्वविद्यालय का कुलपति पद राज्य विधान सभा के सदस्य के रूप में अपने-अपने विभिन्न शैक्षणिक एवं राजनैतिक कार्यों का सम्पालन कर कि मानव अपना निर्माण स्वयं कर सकता है।

इसी सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राजनैतिक कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान देने के कारण उनकी विमल कीर्ति निखर उठी है। जिसके कारण सारा देश आपसे प्रभावित है और आर्य समाज की शिरोमणि सभा के अध्यक्ष के रूप में आसीन है। विज्ञान की उपलब्धियां भी आपके जीवन में चार चांद लगा रही है। देश एवं विदेश के वाहर के विभिन्न विश्वविद्यालयों और चिकित्साकेन्द्रों में अपनी-अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा के कारण नेत्ररोग के निवारण में तरक्की की है, एवं अभी भी इसमें संलग्न है।

आपका बाल्य काल बड़े ही दुख एवं कठिनाई से बीता। सासाराम की भूमि इनकी कठिनाइयों से पूर्णतः अवगत है। जबकि पितृ विहीन बालक दुखनराम ने एक-एक शाम भोजन कर अध्ययन करने में संलग्न रहे थे। अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण ही प्रारम्भ से ही छात्र वृत्ति पाई जिससे आगे बढ़ पाए। १६१५ ई० में आपने विहारोत्कल संस्कृत समित की परीक्षा में सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर यह सिद्ध किया कि संस्कृत भाषा का ज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से उत्तम एवं सहायवर्धक है इस प्रकार संस्कृत भाषा में पुष्पित पलक्वित आपका जीवन इस अवस्था में भी संस्कृत का छाप छोड़ रहा है।

१६१२ ई० में पटना विश्व विद्यालय की मैट्रिक परीक्षा में प्रथम श्रेणी में परीक्षा पास किया। कलकत्ता विद्यालय से बाद में आपने बी० एस० सी० एवं एम० बी० की उपाधि प्राप्त कर पटना मैडिकल में आंख कान, नाक विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए १६३३ में ही आपकी प्रतिभा से प्रेरित होकर बिहार सरकार ने इंग्लैंड भेजा। जहां आपने डी० एन० ओ०, एच० डी० ए० एस० की डिग्री प्राप्त की।

अपने अब तक के जीवन काल में तीन चार विदेश यात्रा की जिससे समस्त संसार में चिकित्सा विज्ञान की गरिमा को विशेष रूप से आलोकित किया। भारत सरकार द्वारा आपको सन् १६४६ में विदेश यात्रा का आमन्त्रण मिला। इस यात्रा में आपने मिश्र, आस्ट्रेलिया, इंग्लैंड, स्काटलैंड, आयरलैण्ड तथा अमेरिका आदि देशों का परिभ्रमण किया। तथा नए-नए अनुशंधानों की जानकारी चिकित्सा जगत के सम्मुख प्रस्तुत की। तृतीय विदेश यात्रा एक शिक्षाविद् के रूप में आपने बिहार, विश्वविद्यालय की कुलपति की है।—हैसियत से सन् १६५८ में की। कामन वेल्थ विश्वविद्यालय में भारत का प्रतिनिधित्व करते हुए। आपने टारोन्टों एवं मैट्रियल विश्व विद्यालय में भारत की शिक्षा प्राप्ति का सफल रूप से निर्देशन एवं प्रसारण कर आपने भारत की गरिमा के अन्य राष्ट्रों के समक्ष प्रस्फुटित किया। इसी क्रम में कनाडा, अमेरिका, नार्वे, स्वीडन, जर्मनी, इंग्लैण्ड एवं तुर्की में भी अपनी व्याख्यान माला प्रस्तुत कर शिक्षा शास्त्र के उद्देश्य पर प्रकाश डाला। आपका जीवन केवल शिक्षा जगत की उपलब्धियों से प्रेरित नहीं रहा वरन् सामाजिक एवं राज

नैतिक कार्यों का भी कार्य स्थल सफल रूप से रहा। आर्य समाज के मंच से आपने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। तथा बिहार राज्य आर्य समाज के २४ वर्षों से अध्यक्ष तथा सार्वदेशिक सभा के उपाध्यक्ष एवं वर्तमान अध्यक्ष के रूप में हैं। बिहार के ही नहीं अपितु भारत वर्ष के सैकडी सामाजिक शैक्षणिक एवं चिकित्सा संबंधी संस्थाओं के आप प्राण हैं।

इस प्रकार हम आपके जीवन में एक विचित्र अवस्था को देखते हैं। जो कि विरले ही लोगों में मिलता है। भारतीय संस्कृति के प्रवल पौषक के रूप में आपने अपने जीवन को उतारा और इसकी उन्नति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। आपके दृष्टिकोणों एवं जीवन की घटनाओं से यह मानना पड़ता है कि वेदों के विकाश से हमारा क्षेत्र वढ़ सकता है। उसके साथ आपका जीवन एक परस्पर विरोधी शक्तियों का संगम है। आपके ७४ वर्षीय जयन्ती पर आयोजित अभिनन्दन पर हम अपनी शुभ कामना व्यक्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि आप शवायु होवें। और बिहार की भूमि को सदैव जाज्वल्यमान करते रहे। □

धर्मवीर जी

डॉ० धर्मवीर जी का जन्म २० जनवरी १९०६ में पटियाला में हुआ। आपके पिता राजा ज्वालाप्रसाद जी पटियाला में स्टेट इंजीनियर थे। वे विचारों से आर्य समाजी थे। उन दिनों पंजाब में लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज, भाई परमानन्द, सरदार अजीतसिंह, स्वामी श्रद्धानन्द आदि अनेक राष्ट्रीय नेताओं का प्रभाव था। वे सब आर्य समाजी थे। राष्ट्र की तमाम 'सुधार' एवं 'स्वराज्य' की गतिविधियों का केन्द्र विन्दु आर्य समाज मन्दिर ही थे। हर शिक्षित व्यक्ति प्रायः आर्य समाज से सम्बन्ध रखता था। सन १९०८ की बात है—राजा ज्वालाप्रसाद जी पटियाला आर्य समाज के प्रधान थे। पटियाला में उन दिनों आई० जी० ओ० पुलिस पद पर मि० जारूटन नामक अंग्रेज था। वह आर्य समाज के राष्ट्र-वादी प्रचार से जलता था। उसने महाराजा पटियाला को समझा-बुझाकर अपने प्रभाव में कर लिया। आर्य समाजियों को शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का आरोप लगाकर सबके घरों की तलाशी ली गई। राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत, वीर महापुरुषों की जीवनियां, सत्यार्थ प्रकाश आदि धार्मिक पुस्तकें आपत्तिंजनक मानकर जब्त कर ली गईं। राजा ज्वाला प्रसाद जी के यहां से "सत्यार्थ प्रकाश" तथा लोकमान्य तिलक की पुस्तकें मिलीं। राजा साहब "इंजीनियरिंग सर्विस" में थे, इसलिए "सेक्रेटरी आफ स्टेट" की स्वीकृति लिए विना उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। दो वर्ष तक जांच की जाती रही। उनके विरुद्ध लगाए गए आरोपों के प्रतिवाद के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू, महात्मा मदनमोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल जैसे प्रसिद्ध वकीलों ने अपने आपको प्रस्तुत किया। दो वर्ष की जांच के पश्चात् राजा साहब को निर्दोष घोषित कर नौकरी पर बहाल करना पड़ा।

राजा ज्वालाप्रसाद जी की प्रतिभा, व्यक्तित्व क्षमता इतनी प्रभावशाली थी कि अंग्रेजों ने प्रथम भारतीय चीफ इंजीनियर उन्हें

बनाया। वे धार्मिक एवं राष्ट्रीय संस्कारों से प्रभावित थे। इसलिए अपने तमाम बच्चों के नाम धर्मवीर, क्रान्तिवीर, सत्यवीर रखा। छोटी अवस्था में अपने बच्चों के लिए ट्यूटर (अध्यापक) जो रखे गए वे आर्य समाजी थे। प्रातः जल्दी उठना, ठण्डे पानी से स्नान करना, संध्या करके उसके बाद कोई कार्य करना, वेद, मंत्र, गीता के श्लोक, रामायण की चौपाइयां, गायत्री मंत्र का जाप नित्य प्रातः सायं करने की परम्परा परिवार का अंग बन गई। इस प्रकार क्रांतिकारी,तपस्या का जीवन धर्मवीर जी ने पटियाला में बिताया। विशेष शिक्षा के लिए लखनऊ गए। उसके पश्चात वहां से इलाहाबाद में स्नातक बनकर अधिक अभ्यास के लिए लंदन गए। "स्कूल आफ इकनामिक्स" की उपाधि प्राप्त की। सन् १९३० में आई० सी० एस० परीक्षा पास करके भारत लौटे।

भारत लौटने पर उत्तर प्रदेश में विभिन्न पदों पर रहकर कार्य करते रहे। उनकी कार्य कुशलता, निष्ठा और गहरी सूझ-बूझ को देखकर सरकार ने उन्हें भारत का उप मुख्य "आयात नियन्त्रक" पद का कार्य सौंपा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात सन १९४७ में स्वतन्त्र भारत के संयुक्त सचिव का पद आपको सौंपा गया आप दिल्ली आ गए। पंडित जवाहरलाल नेहरू श्री धर्मवीर जी के कार्य से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने अपने निजी सचिव का कार्य श्री धर्मवीर जी को संभालने का आग्रह किया। पण्डित जवाहरलाल के समीप रहने से श्री धर्मवीर जी ने अपनी योग्यता की धाक जमाई। पण्डितजी हर कार्य में श्री धर्मवीर जी से सलाह लेते थे। उनकी राय महत्वपूर्ण होती थी। पण्डित जी ने श्री धर्मवीर जी को लंदन में भारतीय राजदूत बनकर जाने के लिए कहा। अनेक समस्याएं ऐसी थीं, जिनको देखते हुए श्री धर्मवीर जी वहां के लिए उपयुक्त समझे गए। लंदन में रहकर आपने देश के गौरव को बढ़ाया। दोनों देशों में निकटता आई।

चैकोस्लेवाकिया का भारत से सम्बन्ध कुछ अच्छे नहीं थे।

दोनों देशों की मित्रता आवश्यक थी नेहरू जी का आग्रह आया। श्री धर्मवीर जी लंदन से चैकोस्लेवाकिया भारतीय राजदूत बनकर पहुंच गए। आपने दोनों देशों में जो स्नेह पैदा किया उसको आज भी लोग याद करते हैं।

भारत विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान से आए शरणार्थियों (पुण्यपार्थियों) की समस्या बड़ी जटिल थी। इस कार्य को करने के लिए किसी कुशल प्रशासक की आवश्यकता महसूस की गई। भारत सरकार की दृष्टि श्री धर्मवीर जी पर गई। सन. १९५५ में आपको भारत बुलाकर पुनर्वास मंत्रालय में मुख्य सचिव पद का कार्य आप को सौंपा गया। आपने इस कार्य को बड़ी योग्यता के साथ किया। आपूर्ति. मंत्रालय के सचिव बनकर भी आपने उल्लेखनीय कार्य किया। पंजाब से बेघर होकर आए लोगों ने दिल्ली में जहां जिसको मौका मिला अपना डेरा डाल दिया। राजधानी दिल्ली में दुगुनी बस्ती बढ़ गई। चारों ओर अव्यवस्था का साम्राज्य था। नियम और अनुशासन का अभाव था। गन्दगी के कारण सड़कों की हालत खराब थी। गंदे पानी को निकालने की व्यवस्था अच्छी नहीं थी। देश की राजधानी दिल्ली साफ-सुथरी बने—यह परम आवश्यक था। यह कार्य करना बड़ा कठिन था। हिम्मत वाले प्रशासक की खोज की जाने लगी। श्री धर्मवीर जी को सबसे अधिक उपयोगी समझा गया। आपको दिल्ली का कमिश्नर बनाया गया। आज जो दिल्ली नजर आ रही है—उसके मूल ढांचे में परिवर्तन करने का प्रथम प्रयास श्री धर्मवीर जी ने अपने काल में बड़ी कुशलता से किया। आपातकाल जैसी दुर्दशा उस समय नहीं हुई।

सन् १९६४ में मन्त्रिमण्डलीय सचिव भी बने। डॉ० भाभा की मृत्यु के पश्चात् अणु ऊर्जा आयोग के अध्यक्ष भी आप बनाए गए। पंजाब में अकालियों का बड़ा आतंक था। आपको उस समय पंजाब हरियाणा का राज्यपाल बनाया गया। आपने अकालियों की राज-नैतिक शरारत को बड़ी कुशलता से दबाया। उन दिनों नकसल-

वादियों ने पश्चिमी बंगाल के गांव-गांव में आग लगा रखी थी। सारे कारोबार ठप्प थे। सुरक्षा का अभाव था। चारों ओर लूट-पाट का बोलबाला था। भारत सरकार ने उस समय सन् १९६७ में श्री धर्मवीर जी को वहां राज्यपाल बनाकर भेजा। थोड़े समय में आपने नकसलवादियों के आंतक को दबा दिया। उन दिनों में भी आप नित्य प्रातः नियमानुसार कलकत्ते में जब गोल्फ खेलने जाते थे तो लोग आपको नकसलवादियों का नाम लेकर प्रायः यही कहते थे—आप अकेले आते जाते हैं, यह ठीक नहीं, साथ में सुरक्षा अधिकारी रखा करें। नकसलवादी बड़े खतरनाक होते हैं... आदि। श्री धर्मवीर जी उस समय यही उत्तर देते थे कि—"मेरा रक्षक भगवान् है। वही मेरी रक्षा करेगा। कोई व्यक्ति मेरी रक्षा क्या करेगा?"

बंगाल के पश्चात् आप ६९ से ७२ तक मैसूर के राज्यपाल बनाए गए। विचारों से सहमत न होने के कारण धर्मवीर जी ने राज्यपाल पद से त्याग पत्र दे दिया। सन् १९७७ में जनता सरकार बन जाने पर आपको पुलिस आयोग के अध्यक्ष पद का कठिन कार्य सौंपा गया। आप देश-विदेश का दौरा करके पुलिस व्यवस्था सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण सुधारों को सरकार के सामने रिपोर्ट तैयार करके पेश की। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि रिपोर्ट चाहे कितनी सुन्दर क्यों न हो—उसका पालन कराने पर ध्यान नहीं दिया तो कोई सुधार सम्भव नहीं होगा।

डा० धर्मवीर जैसा कुशल प्रशासक देश में हमें और कोई नजर नहीं आता। उनकी दी जाने वाली रिपोर्ट को भारत सरकार पवित्रता से कार्यान्वित कराने में सफल हो जाएं तो रामराज्य का जो स्वप्न जो गांधी जी देखा करते थे, साकार रूप धारण कर सकेगा, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं।

जहां तक आर्य समाज से सम्बन्ध होने की बात है—वे बचपन से प्रभावित रहे। दिल्ली में बसन्त विहार में कुछ आर्य भाई पारि-

वारिक सत्संग घरों में लगाते थे। समाज मन्दिर नहीं था। स्वर्गीय श्री ओमप्रकाश सूरी को जब यह पता लगा कि श्री धर्मवीर जी से हमारा निकटता का सम्बन्ध है। हमारे विवाह में उन्होंने पिता का कार्य किया था। हमारी बारात उनकी कार में निकाली गई थी। उनका आशीर्वाद हमें सदा मिलता रहा है। वे उन दिनों बसन्त विहार में रहते थे। डा० धर्मवीर की धर्मनिष्ठ धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती वहिन दयावती जी की निर्वाण तिथि पर यज्ञ कराने प्रायः हम जाते हैं। श्री सूरी जी ने कहा—"श्री धर्मवीर जी चाहें तो हमें बसन्त विहार में आर्य समाज मन्दिर के लिए भूमि मिल सकती है। आप उन्हें कहें। हमने श्री धर्मवीर जी से कहा, उन्होंने आर्य भाइयों को मिलने के लिए कहा। आर्य भाई मिले, प्रार्थना स्वीकार हुई। भूमि मिल गई। भूमि मिलने के पश्चात् मन्दिर बनाने की बात आई। श्री सूरी जी के कहने पर पुनः प्रार्थना की। प्रतिनिधि मंडल बिरला जी से मिला। मन्दिर बनाने के लिए बिरला परिवार-तथा अन्य लोगों से श्री धर्मवीर जी ने सत्कार दिलाया। मन्दिर बन गया। जिसका नाम "महात्मा आनन्द स्वामी भवन" रखा गया है। श्री धर्मवीर जी इस समाज के प्रधान हैं। आपको सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रतिष्ठित सदस्य भी बनाया गया। सभा के आप तीन वर्ष उपप्रधान भी रहे। आज भी अनेक संस्थाओं के आप प्राण हैं।

आप एक सच्चे देश भक्त, राष्ट्रवादी श्रेष्ठ एवं कुशल प्रशासक हैं। हम प्रभु से आपके लिए मंगल प्रार्थना करते हैं। आपको मध्य में पाकर सब अपना गौरव अनुभव करते हैं। वास्तव में आप एक तेजस्वी "आर्य रत्न हैं।"

□

आचार्य भद्रसेन

आचार्य भद्रसेन भारत के सुप्रसिद्ध उन गिने चुने विद्वानों में एक हैं जिन्होंने संस्कृत के सुप्रसिद्ध केन्द्रों में शिक्षा ग्रहण की आपने प्राच्य आर्य शिक्षा प्रणाली के अनुसार विद्या अध्ययन किया। श्री आचार्य जी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू भाषा में हुई। आप प्रारम्भ में ही विद्या अध्ययन में कुशाग्र बुद्धि थे। इसलिए ढाई तीन वर्ष के अल्प काल में उर्दू की पांच क्लासें पास कर लीं। आचार्य जी को असन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने वाले एक आदर्श आर्य थे वे सदाचार व संयम की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे जिनका नाम दीवानचन्द था वे एक पटवारी होते हुए भी उनके आर्यत्व का प्रभाव उनसे सम्बन्धित सभी ग्रामों में फैल गया था वे अपना निश्चित ३०-३२ रुपये वेतन के अतिरिक्त किसानों व जिमीदारों से एक पैसा भी नहीं लेते थे। उनकी तथा एक अन्य महानुभाव के आग्रह से आचार्य जी अपने घर से रात्रि को उठकर विना घर वालों को सूचित किए हिन्दी तथा संस्कृत पढ़ने के लिए लाहौर में आ गए। लाहौर में दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय आदि में संस्कृत तथा हिन्दी का अध्ययन किया। आचार्य जी को प्रारम्भ में ही प्राच्य आर्य प्रणाली के अनुसार संस्कृत पढ़ने की तीव्र अभिलाषा थी। आचार्य जी ने लाहौर में अध्ययन काल में जब समाचारपत्रों में यह पढ़ा कि कानपुर के वैदिक विद्यालय में उपरोक्त शिक्षा प्रणाली के अनुसार पढ़ाया जाता है, परन्तु आपके पास कानपुर तक पहुंचने का किराया भी नहीं था। अतः आचार्य जी दिन में तो विद्यालय में पढ़ते और सायंकाल लाहौर के वाजारों मेंघूम-घूमकर लाहौर से निकलने वाले दैनिक मिलाप, प्रलाप तथा वन्देमातरम् आदि को वेचते। अतः जब आचार्यजी के पास कानपुर तक किराया इकट्ठा हो गया तब आप लाहौरसे कानपुर आगए, लगभग दो-ढाई वर्ष कानपुरमें अध्ययन करने के पश्चात् श्री आचार्य जी हरदुवागंज साधु आश्रम में पढ़ने के लिए आए। क्योंकि वहां प्राच्य प्रणाली के अनुसार पढ़ाया जाता था श्री

पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, श्री पण्डित शंकर देव जी आदि भारत के सुप्रिद्ध विद्वान अध्ययन कराते थे। उन्होंने आचार्य जी की प्रार्थना स्वीकार कर उन्हें प्रविष्ट कर लिया। अमृतसर के संस्कृत प्रेमी पुरुषों ने पूज्य स्वामी सर्वदानन्द जी से अपने हरदुवागंज के विद्यालय को अमृतसर में ले जाने की प्रार्थना की। अत उपर्युक्त विद्यालय विरजानन्द ब्रह्मचर्य आश्रम के नाम से अमृतसर आ गया। अमृतसर में ये विद्यालय लगभग ३ वर्ष तक बड़ी सफलता पूर्वक चला फिर विद्यालय के प्रबन्धकों और विद्यालय के गुरुजनों में कुछ अनबन हो जाने के कारण यह विद्यालय भी बन्द हो गया। फिर श्री आचार्य जी व गुरुजनों ने ५-६ ब्रह्मचारियों को साथ जिनके माता-पिता खर्च दे सकते थे उनको साथ लेकर काशी जाने का निश्चय किया। ऐसी अवस्था में श्री आचार्य जी के सम्मुख बड़ी कठिन समस्या आकर उपस्थित हो गई। उन दिनों श्री आचार्य जी के पास काशी में जाकर पढ़ने के लिए खर्च नहीं था। क्योंकि उनके माता-पिता का बाल्यकाल में ही स्वर्गवास हो चुका था। इतने में ही पूज्य स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज आश्रम में पधारे. पूज्य जिज्ञासु जी ने स्वामी जी की ओर संकेत करके स्वामी जी महाराज से निवेदन किया। "पूज्य स्वामी जी यह ब्रह्मचारी बड़ी लगन से पढ़ता है तथा समाज सेवा की भी इसमें लगन है। स्वामी जी महाराज ने पूज्य आचार्य जी से कहा भद्र! तुम भी जाकर काशी में विद्याध्ययन करो, तुम्हारे भोजनादि का सब खर्च मैं तुम्हारे पास प्रतिमास भेज दिया करूंगा।"

काशी में संपूर्ण पातंजल महाभाष्य, दर्शन तथा साहित्य के समाप्त होने के पश्चात् श्री आचार्य जी में आध्यात्मिक उन्नति के उद्देश्य से योगाभ्यास सीखने की उत्कृष्ठ अभिलाषा उत्पन्न हुई तब श्री आचार्य जी योगाभ्यास सीखने के लिए श्री परम पूज्य योगी राज स्वामी कुवलयानन्द जी महाराज संचालक केवल्यधाम लोणावला के पास चले गए वहां चार वर्ष तक कोर्स समाप्त करके पूज्य आचार्य जी गुरुकुल चित्तौड़ में प्राच्य आर्य ग्रंथ पढ़ाने आ गए। गुरुकुल में तीन वर्ष पढ़ाने के पश्चात् श्री आचार्य जी अजमेर आ गए तब से लेकर अब तक मुख्यत: अजमेर ही आचार्य जी का कार्य क्षेत्र रहा है। अजमेर तथा भारत के अन्य प्रान्तों में श्री आचार्य जी के बड़े प्रभावशाली वेद प्रवचन होते रहते हैं। श्री आचार्य जी

योगिक चिकित्सा द्वारा सैकड़ों नर-नारियों को निरोग बना चुके हैं। आप श्री विरजानन्द वैदिक विद्यालय अजमेर के आचार्य भी रह चुके हैं तथा पातंजल योगाश्रम अजमेर के संचालक भी।

आचार्य जी ने लगभग एक दर्जन ग्रंथों की रचना की है इस समय निम्न ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं—

(१) योग और स्वास्थ्य (२) प्राणायाम (३) आदर्श गृहस्थ जीवन (लगभग ३०० पेज की एक ही वेदमंत्र की व्याख्या) (४) आदर्श की ओर (५) कठिन तथा असाध्य रोगों की योगिक प्राकृतिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सा (६) हम आर्य है (७) योगासन तथा योगिक चित्रपट (८) प्रभु भक्त दयानन्द तथा उनके आध्यात्मिक उपदेश (९) आर्याकर्त्तव्यदर्श।

निम्न ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं—

(१) वैदिक वाङ्मय वाटिका (केवल संस्कृत में) (२) वैदिक भक्ति स्रोत। (३) विश्व शांति का स्रोत वैदिक धर्म।

राजस्थान सरकार ने आचार्य जी की संस्कृत सेवाओं से प्रभावित होकर उन्हें तीन वर्ष के लिए १०० रु० मासिक सहायता देना स्वीकृत कर श्री आचार्य जी को सम्मानित किया है।

आचार्य भद्रसेन जी एक तपस्वी, निष्ठावान योग प्रेमी व्यक्ति थे। आपने अनेक पथ भ्रष्ट व्यक्तियों को आर्य बनाया। वैदिक यंत्रालय में अब तक ध्यान देते रहे तब तक आर्य ग्रंथों का प्रकाशन होता रहा। आपका स्वर्गवास २१ जनवरी १९७५ में अजमेर में हुआ। □

कर्मशील लाला चतुरसेन जी

चलं तित्तं, चलं वित्तं, चले जीवितयौवने ।
चलाचलमिदं सर्वं कीर्तियस्य स जीवति ।।

चित्त, वित्त, जीवन, यौवन सब चंचल और नाशशील हैं जिसकी कीर्ति स्थिर है, उसका ही जीवन अमर है ।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आजीवन सदस्य, सार्वदेशिक प्रकाशन लि० के प्रारण परम स्नेही लाला चतुरसेन जी गुप्त को दिनांक २३ दिसम्बर की प्रात: बेला में काल के क्रूर पंजे ने हम से सदा के लिए अलग कर दिया था । वे स्वर्गवासी हो गए । उनका जन्म उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिला अन्तर्गत शामली कस्बे में १९६३ में वैश्य परिवार में हुआ था । सात वर्ष की अवस्था में स्थानीय पाठशाला में प्रवेश किया दो वर्ष देवनागरी का अभ्यास किया । ९ वर्ष की छोटी सी आयु में मुनीमी का कार्य सीखकर दुकानदार के यहां लग गए । दो वर्षों में मुनीमी का अच्छा काम सीख लिया । १३ वर्ष की आयु में दिल्ली के लाला लक्ष्मीनारायण जी ने आपको दिल्ली बुला लिया । भोजन के साथ-साथ वार्षिक वेतन १००) निश्चित किया गया । दो वर्ष यहां कार्य किया । १४ वर्ष की आयु में विवाह हो गया । लाला सोहनलाल निहालचन्द, लाला राधेलाल धर्मदास और अन्त में लाला नन्दलाल मनोहरलाल के यहां मुनीम रहे । १० वर्ष मुनीमी का कार्य किया । अच्छा अनुभव हुआ । १९२७ में मुनीम के कार्य से मुक्ति ले ली ।

जब लाला जी मुनीम का कार्य करते थे तब आपके विचार पौराणिक थे । बीड़ी, सिगरेट, भांग, गांजा खूब पीते थे । एक दिन तो गिनकर १५० सिगरेट पी गए । सुआंग आदि देखने में बड़ी रुचि रखते थे । एक दिन एक छोटे से कद के शिक्षक आपको मिल गए । वे आर्य समाज चावड़ी बाजार के मंत्री थे । नाम था मास्टर शिव चरणदास जी । उन्होंने देखा कि युवक अति ही प्रतिभाशाली है

परन्तु बुरी संगति में पड़कर बुरी आदतों में फंस गया है। उन्होंने आपको समझाया। "कुसंगति में रहने की अपेक्षा अकेले रहना अधिक उत्तम है।" बुरी आदत छोड़ने को कहा। आर्य साहित्य पढ़ने को दिया। जीवन का कायाकल्प हो गया। सब बुरी आदतें छूट गईं और पक्के आर्य समाजी बन गए।

मुनीम का कार्य छोड़कर आपने साहित्य-प्रकाशन का कार्य शुरू किया। सर्व प्रथम आपने महर्षि वात्स्यायन कामसूत्र को प्रकाशित कराया। सरकार ने उसे जब्त किया। केस चला, अभियोग से मुक्ति मिली। उसके पश्चात् आपने महाभारत के १६ भाग १-१ हजार पृष्ठ के प्रकाशित कराए। महामुनि चाणक्य के अमर ग्रन्थ कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, दण्डनीति, नारदनीति, वणक्नीति विदुरनीति आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित कराए।

राजा कालस्य कारणम्—शासक ही अच्छे या बुरे समय का कारण होता है। राजा अच्छे हैं तो प्रजा अपने आप ही अच्छी हो जाएगी। यह सोचकर आपने जो धर्मनीति सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रकाशन किया था वह साथ में लेकर जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, प्रतापगढ़, इन्दौर, धौलपुर, कोटा, बूंदी, डूंगरपुर आदि के राजाओं एवं उनके धर्मगुरुओं से मिले। प्रकाशित साहित्य को पढ़ने तथा उनके प्रचार-प्रसार के लिए आग्रह किया। इस कार्य में आपको अच्छी सफलता मिली। समय-समय पर आप राजाओं तथा उनके धर्मगुरुओं को पत्र भी लिखा करते थे। पुस्तक प्रकाशन, का आपने ६ वर्ष तक कार्य किया। अनेक बार आपकी पुस्तकें जब्त हुईं। सरकार द्वारा दुकान की तलाशी ली गई। एक बार १९ हजार की पुस्तकें चोरी हो गई। घर में आग लग गई। पास में कुछ नहीं रहा।

दिल दे तो इस मिजाज का परवरदिगार दे।
जो रंज की घड़ियां भी खुशी में गुजार दे॥

प्रभु जो करता है भले के लिए करता है यह सोचकर बिना रंज और गम के खाली हाथ अपने गांव शामली पहुंच गए।

दिल्ली से आप जब शामली पहुंचे तब आपने वहां के परम-स्नेही मित्र डा० प्यारेलाल जी के सहयोग से वैदिक प्रेस खोला। साहित्य प्रकाशन आदि का कार्य शुरू किया गया, दो वर्ष कार्य किया, आर्थिक लाभ कुछ भी नहीं हुआ। परिवार के भरण-पोषण की जवाबदारी थी। प्रेस बन्द हो गया। पास में कुछ पुस्तकें थीं।

उनमें से विशेषकर कौटिल्य अर्थशास्त्र की खूब बिक्री हुई। अलग से गुप्ता प्रेस स्थापित किया। यहां प्रेस खूब चला।

१० जनवरी १९४३ को गांधी जी को नाथूराम गौडसे नामक एक पूना के व्यक्ति ने गोली मारकर उनकी जान ले ली। सारे देश में गिरफ्तारियां होने लगीं। लाला चतुरसेन जी को भी बीमारी की अवस्था में तारीख ६ फरवरी को गिरफ्तार कर लिया गया। प्रथम शामली जेल में रखा उसके पश्चात् मुजफ्फर-नगर के कारागार में आपको बन्द किया गया। ढाई मास मुजफ्फर-नगर जेल में रखने के बाद वहां से आंपको आगरा के सेन्ट्रल जेल में ले जाया गया। बाद आप ३ मास वन्दीगृह में रहे। अनेक प्रकार की धाराएं लगाईं गईं। इलाहाबाद हाई कोर्ट में केस चला। निर्दोष छूट गए। गांधी जी को मारने वाले से आपका दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। न ही आपने उसका पहले कभी नाम सुना था।

जून १९५१ में, आपको प्रसिद्ध आर्य समाजी नेताओं ने दिल्ली बुलाया। सार्वदेशिक प्रेस का कार्य आपको सौंपा गया। इस प्रेस का कार्य आप अपने जीवन के अन्त तक बड़ी सफलतापूर्वक करते रहे। प्रेस का कार्य करते हुए आपने लाखों की संख्या में विभिन्न आर्य ग्रंथ प्रकाशित करके सस्ते भाव में लोगों तक पहुंचाएं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का मुखपत्र-सार्वदेशिक पहले मासिक निकलता था। मासिक अवधि बहुत लम्बी होती है, आर्य जनता को हर सप्ताह रविवार के साप्ताहिक सत्संगों में आर्य जगत की विशेष सूचनाएं मिलनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि साप्ताहिक पत्र शुरू कियाजाए।

यह कार्य काफीकठिन था । लाला जी ने यह कार्य अपने हाथ में लिया। नाममात्र का भोजन-व्यय लेकर आप इस कार्य को सुचारु रूप से अन्त तक करते रहे एक ध्येय निष्टकार्यकर्ता के रूप में। वेतन के सम्बन्ध में शैक्सपीयर की यह बात आपको बहुत अच्छी लगती थी—"वह अच्छा वेतन पाता है जो पूर्ण संतुष्ट है।"

सार्वदेशिक सभा ने आर्य समाज स्थापना शताब्दी को लक्ष्य में रखकर चारों वेदों, स्वामी दयानन्दकृत तमाम ग्रन्थों आदि के प्रकाशन का कार्य शुरू करवाया। कार्य महान् था। शक्ति सीमित थी। लाला जी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। फिर भी जीवन के अन्तिम भाग में इन ग्रन्थों के प्रकाशन का पुण्य प्राप्त होगा, यह

समझकर स्वास्थ्य की परवाह किए बिना यह भागीरथ कार्य आपने अपने हाथों में लिया। दिन-रात लगे रहे। कागज लाना, प्रूफ देखना, वाईंडिंग कार्य करवाना, बिक्री विभाग में पुस्तक पहुंचवाना आदि छोटे-बड़े सभी कार्य स्वयं करते थे।

गहन अध्ययन

आपने विद्यालय में सिर्फ दो वर्ष पढ़ाई की। परन्तु नित्य के स्वाध्याय ने आपको महान् ज्ञानी बना दिया था। बड़े-बड़े विद्वान आपके पण्डित्य और गहरी सूझ-बूझ का लोहा मानते थे। अनेक राजनीतिक नेता आपसे प्रायः मार्ग दर्शन लेते थे। वास्तव में वे एक गुदड़ी के लाल थे। जीवन में आपने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। लगभग १०० के करीब छोटी पुस्तक-पुस्तिकाएं लिखीं। जिनमें स्वर्ग में हड़ताल; स्वर्ग में महात्मा गांधी की प्रेस कान्फ्रेंस, नरक की रिपोर्ट, भारतीय आर्य समाजवाद, राष्ट्रपति की सेवा में ११ पत्र, परलोक में २६ जनवरी, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण हैं। देश में आर्थिक ढांचे को सुधारने में गाय की रक्षा महत्त्वपूर्ण है। परिवार नियोजन देश को बर्बाद करके छोड़ेगा। शराबबन्दी न हुई तो देश की गरीब जानता कभी सुखी नहीं हो सकती। साम्प्रदायिक मुसलमानों की मलीन मनोवृत्ति ठीक न की गई तो राष्ट्र में शांति स्थापित नहीं होगी आदि अनेक समस्याओं पर आपने अनेक महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। तथा हजारों ट्रैक्ट प्रकाशित करवाकर मुफ्त बांटे किसी ने ठीक कहा है :—

यह बात कुछ महत्त्व नहीं रखती कि आदमी मरता कैसे है।
बल्कि यह महत्त्व की बात है कि वह जीता किस प्रकार है॥

श्री लाला चतुरसेन जी कर्मशील, देश भक्त, निःस्वार्थी, एक आर्य सेवक थे। आर्य समाज और उसमें भी विशेषतया सार्वदेशिक सभा को आपने अन्तिम श्वास तक जो सेवाएं और मार्गदर्शन दिया उसकी कमी अब हमें महसूस होगी। किसी व्यक्ति केअभाव में उसके महत्त्व एवं आवश्यकता का पता लगता है। लाला जी के अभाव की पूर्ति करना सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

परन्तु इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि आपने जो सेवाएं की हैं उससे आपकी कीर्ति अमर है और अमर रहेगी।

●●●